

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182982

UNIVERSAL
LIBRARY

J-13-6-75-10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

H 80/S 615

Accession No. H 2251

Book should be returned on or before the date last marked below.

साहित्य की परख

लेखक

गोपाल सिंह

एम० ए०, पी० एच० डी०

प्रकाशक

दौलतराम एण्ड सन्स,

नई मड़क,

दिल्ली ।

प्रथम बार]

[१०००

प्रकाशक
दौबतराम एण्ड सन्स,
नई सड़क, दिल्ली ।

पंजाबी से अनूदित
लेखक की अन्य रचनाएँ

१. पंजाबी साहित्य का इतिहास
२. रोमान्टिक पंजाबी कवि
३. गुरुग्रंथ की साहित्यिक विशेषता
४. पंजाबी लेख
५. छे कवि
६. हनेरे सवेरे (कविता)
७. भनाँ (कविता)
८. लाली (नाटक)

मुद्रक
पी० बी० ग्रह० प्रेस
पहाड़गंज, नई दिल्ली ।

विषय-सूची

१. साहित्य का उद्देश्य

कलात्मक अभिरुचि—आत्माभिव्यक्ति—क्या कुछ साहित्य नहीं —साहित्य-रचना का उद्देश्य—साहित्य का वर्तमान और भविष्य—साहित्य और समाज—साहित्य और अनुभव—साहित्य और जीवन—साहित्य और इतिहास—लेखशैली । पृष्ठ ६—३१

२. कविता की कला

कविता और कल्पनाशक्ति—कविता में भाव—कविता अथवा “संगीतमय विचार”—कविता और विज्ञान—कविता और प्रतीकवाद—धारणा शक्ति—कविता के विषय—क्या कविता कविता के लिये है ? कविता और मानव का विकास—कविता, आत्मीय और अनात्मीय—गीतिकाव्य—गाथाकाव्य आदि—महाकाव्य—किस्साकाव्य—नाटकीय कविता—कविता और छंदनिर्णय—कविता के रस—कविता और वातावरण—कविता की भाषा—अलंकार—कविता और भाव की रचनात्मकता—आवश्यक अलंकार—नाशकारी राग—संतुलनहीन कविता—कविता का उद्देश्य । पृष्ठ ३२—८४

३. उपन्यास

नाटक और विस्मय—समय, स्थान और मूल्य का निर्णय—उपन्यास का ज्ञान—कथानक की रचना—कथानक की स्वाभाविकता और आवश्यकता—इकहरे और दोहरे कथानक—गोल और चौड़े कथानक—कथानक का विकास—कथानक के रूप—उपन्यास ही क्यों ?—उपन्यास और अन्तःप्रेरणा—पात्रचित्रण—पात्रचित्रण के दो अंग—भावी—पात्रचित्रण की स्वाभाविकता—और यथार्थवादिता—उपन्यास और शब्दरचना—कथोपकथन—उपन्यास और संस्कृति—उपन्यास का उद्देश्य—महाकाव्यात्मक, (ऐपिक) नाटकीय, ऐतिहासिक, रोमांचक और यथार्थवादी उपन्यास । पृष्ठ ८५—१३२

४. नाटक की कहानी

नाटक और दर्शनीय कला—नाटक और रंगभूमि—

(ख)

यूनानी रंगभूमि की विशेषतायें—नाटक के बारे में संकेत, वेद शास्त्रों में—प्राचीन भारतीय नाटक—भास और कालिदास—भरत का नाट्यनिर्णय—प्राचीन भारतीय नाटक का अंग-विश्लेषण—भारतीय नाटक का लौकिक प्रारंभ—भारतीय समाज ही एक नाटक है—इंग्लैंड का नाटक—नाटक और अभिनय—नाट्यकार की कला—नाटकीय समस्या—इसके रूप और पड़ाव—समस्या का विस्तार—अंकों और दृश्यों की आवश्यकता—नाटक और गठन—नाटक और मानसिक चित्रण—कथापकथन—विषयानुसार विभाजन—दुःखांत—दुःखांत और ऐपिक—दुःखांत और इतिहास—दुःखांत, क्यों और किस प्रकार ?—दुःखांत के पात्र—दुःखांत के साथ भावा और धर्म का सम्बन्ध—यूनान और शेक्सपीयर के दुःखांत नाटक—सामाजिक दुःखांत—दुःखांत और भावात्मक प्रभाव—दुःखांत का विषय, उसका निर्वाह और उसका प्रभाव—रम की तीव्रता में वृद्धि के कारण—दुःखांत का वानावरण—सुखांत, शब्दों और घटनाओं का—यूरोपीय और भारतीय सुखांत का तुलना—गंभीर और सुखांत नाटक—काव्य नाटक—भाव नाटक—प्रहसन—स्वांग—ऐतिहासिक नाटक—भारतीय नाटक के रूप—रूप के अनुसार नाटक का विभाजन—रोमांचक नाटक—यथार्थवादी नाटक—प्रतीकवादी नाटक—प्रभाववादी नाटक—रेडियो नाटक—मिनेमा नाटक—एकांकी नाटक और जीवन—नाटक का संदेश—

प्रष्ठ १३३—२३२

५. परख, कहानी, लेख

परख की आवश्यकता—परख और कला—ऐतिहासिक और वैज्ञानिक परख—कहानी का प्रारम्भ—कहानी के लक्षण—विस्मय, व्यंग्य, नाटकीय वर्णन, एकता—लेख अथवा गीत प्रष्ठ २३३—२५०

६. कुछ और विचार

समाजवादी यथार्थवादी—कला के बारे में भारतीय दृष्टिकोण—कलात्मकता—अरस्तू—साहित्य और अन्य कलायें—साहित्य और संगीत—मनातनपूजक साहित्य—आदर्शवाद—कल्पनाशक्ति

प्रष्ठ २५१—२७२

१ साहित्य का उद्देश्य

१

साहित्य एक सहृदय की उस आत्माभिव्यक्ति को कहते हैं, जो हमारी कलात्मक चेतना तथा अभिरुचि को परिमार्जित करती हुई, हमें आदर्शोन्मुखी बनाती है। साहित्य की इस व्याख्या के अनुसार साहित्य के तीन उद्देश्य होते हैं :

- १) आत्माभिव्यक्ति ।
- २) कलात्मक अभिव्यक्ति ।
- ३) मानवीय आदर्शों का नेतृत्व ।

अपनी कृति में इन तीनों अंगों का सम्यक् समन्वय किये बिना कोई भी कलाकार अमर नहीं हो सकता। केवल आत्माभिव्यंजन के लिये की हुई रचना, जिसका कृतित्व अथवा रूप मनोहारी नहीं है, जो हमारे भावों को संदित नहीं करती और हमें साहित्यकार की भीतरी भावनाओं से रसाप्लावित नहीं करती, वह साहित्य की पदवी प्राप्त नहीं कर सकती। इसलिये कलात्मक चेतना का परिमार्जन साहित्यकार का मूल उद्देश्य होना चाहिये। साहित्य में उसके जैसे जैसे भाव हम पढ़ें, वैसे वैसे ही वह

हमें सहलाये, थपथपाये, उत्साहित करे, प्रेरणा दे, रुझाये, हँसाये। साहित्यकार एक अमर प्रतिभाशाली कलाकार है। जीवन में विचरता हुआ वह उससे एक निर्दिष्ट दिशा में प्रभावित होता है और इन प्रभावों को वह जीवन के साथ साक्षात् करना चाहता है। मानव जीवन के प्रवाह की लक्ष्यभ्रष्ट, असंगत गतिविधि को, उसकी अव्यवस्थता को कलाकार नियमित बना देता है। मानव पूर्ण सत्य में नहीं, अपितु उसके पृथक्कृत खंडों में, खंड-सत्त्यों में आस्था रखता है। साहित्यकार इन खंडसत्त्यों को मिलाता, एक करता, इन्हें व्यवस्थित करता है। इस कटी-फटी, बिखरी सामग्री में से एक संबंध की सृष्टि करता है। हम इसी लिये साहित्य-चर्चा करते हैं कि इससे हमें जीवन किसी आदर्श की, किसी पड़ाव की खोज में, अधिक व्यवस्थित रूप में घूमता प्रतीत होता है। और हम अपने तथा अपने आवेष्टन (environment) के लक्ष्यभ्रष्ट जीवन की संपूर्णता को, साहित्य में लखकर गद्गद होते हैं, बलिहारी जाते हैं।

जो कुछ हमने ऊपर कहा है, उसे तनिक विस्तार से समझाना आवश्यक है। इसके लिये हम पहले यह निर्णय करेंगे कि किस रचना को साहित्य की पदवी नहीं दी जा सकती। इससे साहित्य तथा 'अ-साहित्य' का अंतर और भी स्पष्ट हो जायगा। वह सब कुछ साहित्य नहीं, जिसका उद्देश्य केवल हमारी ज्ञान-वृद्धि होता है (उदाहरणस्वरूप, इतिहास, भूगोल, दर्शन, ज्योतिष, विज्ञान, आयुर्वेद आदि) अथवा जो मानव की श्रेणी विशेष को

प्रेरित करे, तथा मनुष्यमात्र को, सर्वदा, सर्वत्र मनुष्य के नाते प्रेरणा न दे सके । दूसरे अर्थों में साहित्य देश, काल, श्रेणी के बंधनों से मुक्त, जीवन को सामग्री से निर्मित, जीवन को सर्वदा सर्वत्र एक जैसी भावनाओं से उत्साहित करता, चुनौती देता है । साहित्य-ज्ञान कभी वासी नहीं होता, इसके रस का स्रोत कभी सूखता नहीं, इसका रूप शताब्दियों-पर्यन्त मानव की कलात्मक चेतना को उद्बुद्ध करता चला जाता है । विज्ञान, इतिहास, भूगोल, दर्शन आदि का ज्ञान नयी खोजों, नये आविष्कारों, प्रयोगों आदि द्वारा परिवर्तित होता रहता है ; परन्तु जीवन तथा मृत्यु की महान् समस्याएँ, प्रकृति की सजीव रमणीयतायें, मानव की प्रकृति एवं उसकी प्रवृत्तियाँ, जिनका सत्य परिवर्तनशील नहीं है, अनादि काल से साहित्य की सामग्री रहे हैं । आदिकवि से लेकर आज तक हमारे ज्ञानभंडार में कितनी वृद्धि हुई है ? हमारा आवेष्टन कितना बढ़ चुका है ? शताब्दियाँ बीत गई हैं, कई राज्य लुप्त हो गये हैं ; विचार, रीति-रिवाज, सामाजिक आवेष्टन, ज्ञान-विज्ञान आदि में विस्मयोत्पादक परिवर्तन हुए हैं, किन्तु आदिकवि का

“मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥”

अपने रचना-काल से आज तक मानव को वैसे ही तड़पाता, हुलसाता चला आ रहा है । यह इस लिये है कि इन रचनाओं का सुन्दर रूप मानवहृदय की कलात्मक चेतना को कोई अनिर्वचनीय-सा आनन्द प्रदान करता है, एवं इसके आंतरिक विचार ऐसे

हैं, जिनके साथ मनुष्य सदा से जूझता चला आया है और जूझता चला जायगा और जो कभी, कभी भी नीरस नहीं होते ।

यह जान लेने पर कि साहित्य की विशालता की सीमा मानव-जीवन के विस्तार तथा क्षेत्र से मिलती जुलती है; और उसका नाता संपूर्ण जीवन तथा जीवन की अमर प्रवृत्तियों से है, तथा उसका कलात्मक रूप इतना मनोहारी होता है कि प्रत्येक सहृदय उसके रस में विभोर हो जाता है; और वह जो साहित्य नहीं होता, वह जीवन की केवल परिवर्तनशील, बहिर्मुखी सीमित दशा को ही विस्तृत करने तथा कला के उपयोग के बिना केवल ज्ञानदान के निमित्त रचा जाता है, तो हमें साहित्य की एक स्पष्ट, संशयहीन व्याख्या मिल जाती है ।

२

साहित्यरचना का प्रयोजन क्या है ? क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह जीवन जीता, उसे बदलता तथा देखता है और अपने अनुभवों में दूसरों को साक्षीदार बनाना चाहता है और उनके अनुभवों में हिस्सा बाँटना चाहता है । परन्तु मानव-मात्र इन अनुभूतियों में दूसरों को साक्षीदार नहीं बना पाता, क्योंकि मानवमात्र में कला सापेक्ष परिमाण में विद्यमान नहीं और गूढ़ ज्ञान के बिना, देखे भाले अनुभवों के महत्त्व को समझाया नहीं जा सकता और न ही उनमें से अजर, अनादि सत्य तथा निष्कर्ष का विश्लेषण करके, मानवीय आदर्शों का नेतृत्व

किया जा सकता है। साहित्यकार एक ऐसा अमर प्रतिभाशाली भविष्यद्रष्टा होता है, जिसकी दृष्टि भूत तथा वर्तमान को देखती, भालती हुई, भविष्य के लिये उसका ऐसी भाषा में वर्णन करती है कि अलौकिक आनंद में निमग्न वह रचना पाठकों को अध्ययन, मनन तथा विचारों को कार्यान्वित करने की प्रेरणा देती है।

साहित्य-सृजन के लिये, कलाकार कई साधनों का उपयोग करता है। आत्माभिव्यंजन के लिये वह “अंतर्वेदना” के गीत गाता है, भ्रमरगीत आदि में। इनमें वह निजी विचारों, कारणों, द्विधाओं, आशा-आशंकाओं का वर्णन करता है, जो मनुष्यमात्र के जीवन का भाग हैं। अथवा वह बाह्य को, संसार की क्रियाओं, अनुभूतियों, विचार-धिमशों को रूख देता है, जैसे इतिहास, नाटक, जीवनचरित्र, गल्प, उपन्यास आदि। अथवा वह केवल पदाथा, देश-देशान्तरों, दृश्यों के बारे में लिखता है, जैसे भ्रमणकथाओं, वर्णनात्मक पद्यों अथवा लेखों आदि में।

इस प्रकार साहित्यकार साहित्य का सृजन जीवन की ठोस सामग्री से करता है और जीवन को प्रेरित करने के लिये उस सामग्री को सुघड़ बनाता है। अतः साहित्यकार में निम्नलिखित चार गुण होने अत्यंत आवश्यक है :—

अ) तीक्ष्ण प्रतिभा तथा ज्ञान—जिसमें से विचार उपजते हैं और जो उसकी कृति की मूल सामग्री हैं।

आ) भाव—जिनके द्वारा पाठक के हृदय की सुप्त तारों को उसी

प्रभाव से भङ्कृत किया जाता है, जिनके नीचे साहित्य की रचना हुई हो ।

- इ) कल्पना की उड़ान—जो हममें दूरदृष्टि की सूझ जगाती है और जो साहित्य के वातावरण में कोई एकाकी, अनोखा आवेष्टन उत्पन्न करती है, एवं दृश्यमान के अनावश्यक भाग को कतरव्योंत करके उसे आदर्श, सजीवन प्रदान करती है ।
- ई) लेख-शैली—जो रचना को अनुपात, क्रम, रमणीयता तथा प्रभावशालिता का प्रसाद देती है ।

३

हमने ऊपर देखा है कि साहित्य-सृजन का मूलस्रोत साहित्य-कार की आत्माभिव्यक्ति के लिये विह्वलता है । तात्पर्य यह कि साहित्यकार ने जीवन का कोई रहस्यविशेष ढूँढा होता है और अब वह अप्रयुक्त-पूर्व शब्दों, प्रतीकों, नियमों द्वारा बाकी संसार को उसमें साभीदार बनाना चाहता है । इसी प्रकार ही किसी साहित्यकार की अभिव्यक्ति सफल समझी जा सकती है । यह परखने का कि इस उद्देश्य में वह कहाँ तक सफल रहा है, अथवा दूसरे शब्दों में यह देखने का कि उसने साहित्य में कोई ऐसी वृद्धि की या नहीं, जिससे उसकी रचना को अमर पद प्राप्त हो सके, एक सुगम साधन यह है कि हम उसकी कृति की उस आंतरिक भावना की समीक्षा करें, जिसके ऊपर प्रत्येक कुशल कलाकार अपनेपन का रंग चढ़ा देता है । आत्माभिव्यक्ति का भाव यह नहीं होता कि

जो कुछ और जिस प्रकार पहले किसी ने कहा है, उसे ज्यूं का ज्यूं कह दिया जाय । साहित्य के प्राण हैं मौलिकता, नवीन दृष्टिकोण तथा चराचर को देखने तथा परखने का विशुद्ध अपना प्रयत्न (किन्तु जिसमें उस संपूर्ण परम सत्य को पहले ही परख लिया गया हो, जो पहले ढूँढा जा चुका है) । मौलिकता की चिंता में जो साहित्यकार, पूर्वोपलब्ध वास्तव उत्तम एवं सत्य से आँखें बंद कर केवल आत्माभिव्यंजन के लिये अपनी घटिया, गई-बीती आत्मा का प्रदर्शन करता है, वह साहित्यकार नहीं है, नाली का कीड़ा है, जिसका ज़हरीला असर साहित्य के स्वास्थ्य तथा उसकी उत्तमता को विनष्ट करता है । अतः आत्माभिव्यंजन के निमित्त कलाकार को वह ज्ञान, वह सत्य तथा वह प्रतिभा सापेक्ष है, जो यथाक्रम खोजती, परखती, अपनाती तथा त्याग करती है । जिसने कुछ खोजा ही नहीं, वह परखेगा क्या ! और जिसने कुछ पाया ही नहीं, उसका कुछ तज देना, क्या अर्थ रखता है !

कई लेखक यह भ्रान्त धारणा बना लेते हैं कि भूतकाल की सब रचनायें प्रतिक्रियावादी हैं और वह सब कुछ प्रगतिवादी है जो वर्तमान में उनकी ओर से रचा जा रहा है, क्योंकि 'वर्तमान' भी 'भूत' का ही विकास है, एवं स्वयंभूः नहीं है । प्रत्येक ऊषा की अरुणिमा पिछली रात की तिमिर कुक्षि में से जन्म लेती है और उसकी ऋणी है । अतः जो जिस काल में रचा जा चुका है, उसे समकालीन प्रभाव की रोशनी में परख कर यह पता करना चाहिये कि उसका आत्माभिव्यंजन तत्कालीन भाषा तथा कला के

विकास, मानवीय ज्ञान एवं सामाजिक मूल्यों आदि की वृद्धि में कितना सहायक सिद्ध हुआ, अथवा उसने मानव की अंतर्वेदना तथा अनंत विह्वलता को किस कुशलता से गाया। इसी प्रकार उसकी कृति के महत्व का सही मूल्य कूता जा सकेगा।

अतः साहित्य की परख के लिये उसके स्रष्टा के स्वीय जीवन, तत्कालीन सामाजिक वातावरण एवं समसामयिक साहित्य का ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है।

संत कबीर की जीवन-कथा, सोलहवीं शताब्दी की राजनैतिक एवं सामाजिक अवस्था और भारतवर्ष की अन्य भाषाओं में रचे गये तत्कालीन साहित्य को न भुलाते हुए ही प्रमाता यह समझ सकता है कि क्यों कबीर की कविता पर वह पारमार्थिक रंग चढ़ा हुआ है, जो उसके दो शताब्दी बाद की कविता में बिल्कुल ही नहीं मिलता, क्यों बिहारी की कविता शृंगारमयी तथा जायसी को सूफी-रहस्यवादी है, क्यों वर्तमानकालीन साहित्य अधिकतर समाजवादी और इसीलिये यथार्थवादी है, क्यों भारतीय भाषाओं में पहले नाटक तथा उपन्यास नहीं लिखे गये; और अब उनके लिखे रुचि क्यों बढ़ती जा रही है? वास्तव में यह सब कुछ सामाजिक जीवन के परिवर्तनों का, मानवीय विकास में वृद्धि का, भाषा के वैभव का, अन्य साहित्यों के ज्ञान का एवं साहित्यकारों के स्वीय जीवन आदि के प्रभाव का परिणाम है।

इसी लिये प्रायः समग्र-विशेष में कोई विशेष प्रभाव, प्रवृत्ति

अथवा विचार प्रधान होता है, जैसे सोलहवीं शताब्दी में भक्तिवाद अथवा वर्तमान साहित्य की सामाजिक चेतना । और तत्कालीन सांस्कृतिक इतिहास के मनन से हम इसका कारण स्पष्ट समझ सकते हैं । परन्तु इसका अभिप्राय यह कदाचित् नहीं है कि साहित्यकार केवल स्व-सामयिक प्रभावों, वातावरण आदि का आज्ञा-पालक क्रीतदास होता है, और यह कि कालविशेष के सभी कलाकार एक ही भावना को एक ही साँचे में ढालते हैं । अपितु, तत्कालीन सामाजिक और निजी वातावरण में विचरते हुए प्रत्येक साहित्यकार पर, उनकी प्रतिक्रिया पृथक् पृथक्, कुछ निजी, कुछ अनिर्वचनीय सी होती है और उसकी वर्णनशैली भी ठेठ अपनी ही होती है । यदि ऐसा न हो तो प्रत्येक साहित्यकार हर दूसरे साहित्यकार जैसा कुशल या अनाड़ी कलाकार हो जाय । पर जैसा कि हम देखते हैं, ऐसा बिलकुल नहीं होता । प्रत्येक साहित्यकार का अपना अपना दृष्टिकोण होता है, संसार को देखने और उसका वर्णन करने के लिये उसकी कला भी उसकी उतनी ही अपनी होती है । जिस कलाकार में यह गुण नहीं, वह केवल एक घटिया दर्जे का ऋणजीवी, अनुकारक, नौसिखिया प्राणीमात्र है—कलाकार नहीं । जिस किसी रचना पर कर्त्ता के रक्त के चिह्न नहीं—क्या शैली में, क्या विचारों में—वह रचना साहित्य के लिये कोई देन नहीं है । एक साहित्यकार दूसरे साहित्यकार की प्रतिकृति अथवा छाया अथवा प्रभाव नहीं होता । जो कुछ वह है, और कोई नहीं है—एकदम अपरिचित, अकूता, 'न भूतो न भविष्यति' जैसा ।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि हम प्रत्येक साहित्यकार से किसी अद्वितीय कल्पनाशक्ति अथवा पैनी दृष्टि तथा महान् विस्तृत अनुभव की माँग करते हैं। ऐसा नहीं है। हमारी माँग तो केवल यही है कि जितना जिसका अनुभव है, ज्ञान है, उसी के तीक्ष्णतम तथा सर्वोत्तम रूप का प्रदर्शन वह हमारे सामने करे। यही कारण है कि प्रायः अतीव विस्तृत अनुभव तथा पैनी दृष्टि वाले विद्वानों की कृतियों में भी, चाहे उनकी कला कितनी ही परिमार्जित क्यों न हो, वह सब कुछ उपलब्ध नहीं होता जिसकी हमें उन रचनाओं में आशा होती है—उसका स्वीय स्वरूप, उसकी निजी आत्मा, उसका निजीपन, कथन में सत्य, साहस तथा नवीनता, जो हृदयों पर सीधे प्रहार करते हैं। साहित्य के प्राण उतने नवीनता में नहीं, जितने आत्मीयता में हैं। प्रत्येक साहित्यकार का एक अपना, 'विशिष्ट' रंग होना चाहिये, जो उसे अन्य साहित्यकारों से पृथक् करे और उस द्वारा की गई साहित्य-गुण-वृद्धि का सम्मान करवा सके। अतः साहित्यकार ने, जो कुछ भी देखा, भाला या परखा है, वह उसे केवल विशुद्ध आत्मप्रतिध्वनि की भाँति (जो उसके भीतर बोलती, उसे चलाती, अथवा चलने से रोकती है) अपनी निजी भाषा में और शैली में, स्वाभाविक रूप में, प्रस्तुत कर देवे। स्वाभाविकता ही वह गुण है जो कलाकार को एक अनाड़ी से पृथक् करती है। महान् लेखक, कला का उपयोग करता हुआ भी, ऐसे प्रतीत होता है, जैसे वह कला का उपयोग कर ही नहीं रहा। अनाड़ी, नौसिखिए कलाकार शब्दों, विचारों को यूँ छीलते, घड़ते, सँवारते हैं कि

उनकी प्रत्येक पंक्ति में 'प्रयत्न' का प्रभाव झलकता दिखाई देता है। वाभाविकता लुप्त हो जाती है कला में रस नहीं रहता। परन्तु कुशल कलाकार तूलिका की एकाध रेखा से ही अपना काम सँवार लेता है और उसके चित्र इतने स्वाभाविक, निजी प्रतीत होते हैं कि हमें रसाग्णतावित कर देते हैं।

यही कारण है कि किसी साहित्यकार की रचना पढ़ने के बाद, उसकी जीवनी पढ़ने को जी चाहता है और प्रायः देखा जाता है कि उसकी सारी प्रवृत्तियाँ, उसके सारे आदर्श और विचार, उसकी निर्वलता तथा शक्ति, और उसका संपूर्ण व्यक्तित्व उसकी रचनाओं से अभिन्न होते हैं। अतः ख्यातनामा साहित्यकारों के जीवन के संवन्ध में न्यूनतम विस्तार (detail) ढूँढी जाती है; कब और किस प्रभाव के नीचे उन्होंने एक विशेष प्रकार की रचना की; उनकी रचनाओं का रचनाकाल के अनुसार विभाजन करके पढ़ा जाता है, ताकि साहित्यकार उनके अपने विकास तथा उनकी शैली के विकास का पूरा पता कर सकें। लेखक कभी भी जीवन भर एक जैसी रचना नहीं करता। वह जीवन के नये अनुभवों तथा ज्ञान वृद्धि के साथ अपनी शैली को पकाता, सँवारता, एकदम निजी बनाता रहता है। अतः किसी साहित्यकार की कृति को परखने के समय उसके जीवन की विशेष परिस्थिति, समय के प्रभाव, रचना-काल तथा तत्कालीन अन्य साहित्यकारों की रचनाओं आदि पर विचार करके ही यह पता लगाया जा सकता है कि किसी साहित्यकार ने साहित्य में क्या

विशेष वृद्धि की है और उसके अपने व्यक्तित्व का रंग जिसे हमने आत्माभिव्यक्ति का नाम दिया है, उस रचना में कितना भक्तकता है। परन्तु स्वीय जीवन, सामाजिक आवेष्टन तथा अन्य साहित्यकारों की रचनाओं के साथ तुलना—ये सब किसी सीमा तक ही सहायक हो सकते हैं। कई बार इनसे धोखा भी हो सकता है, क्योंकि साहित्यकार कभी कभी जानबूझ कर, निजी अथवा सामाजिक जीवन से मुँह मोड़, अपनी कल्पना की उड़ान की सहायता से अपनी रचना में किसी अनोखे वायुमंडल को जन्म दे देते हैं। और कई बार यह तुलना इसलिये न्यायसंगत नहीं होती कि प्रत्येक कलाकार (यदि उसमें जीवित रहने का दम है) अपनी रचना को सर्वतः पृथक्, अनोखा बनाने की रुचि रखता है। अतः किसी रचना की समीक्षा करते समय केवल बाह्य मूल्यों से उसकी तुलना हमें ठग भी जाती है। अंत में हम साहित्यिक कृति के संबन्ध में कुछ विचार प्रकट करेंगे—यह देखेंगे कि अपने गुणों, अवगुणों से वह हमें कितनी प्रेरणा देती, ऊँचा उठाती, हमारी चेतना को स्पर्शित करती है, कितनी सहानुभूति तथा कितने प्रेम से हम उसे पढ़ते हैं, हमारी अपनी (पाठकों की) प्रवृत्तियाँ केसी हैं (क्योंकि पाठक की प्रवृत्तियाँ ही उसे सारे साहित्यकारों में से किसी एक की ओर लेजाती हैं—प्रमाता चाहे जो कहें)। अतः किसी रचना का मूल्य आँकते समय, पाठक को उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिये, नहीं तो फूलों के रसपान के स्थान पर, हंसों के नीर-क्षीर-विवेक की बजाय, हमारी रुचि कौआओं, गोधों की

सो हो जायगी, जो गंदगी में विचरते हैं, गले सड़े दुर्गधिग्रस्त मांस पर मंडलाते रहते हैं ।



जहाँ हमने अब तक इस बात पर पर्याप्त प्रकाश डाला है कि आत्माभिव्यक्ति साहित्यसृजन का मूलध्येय है, जिसके लिये साहित्यकार का विचारों में, लेख-शैली में अपनापन बनाये रखना (जो हमारे जीवन-आदर्श का नेतृत्व भी करते हैं, कलात्मक अभिरुचि को परिष्कृत करते हैं और जो साहित्य को साहित्य बनाते, उसे अमर पद प्रदान करते हैं), आवश्यक है,—वहीं हमने इस सत्य को यथाशक्ति स्पष्ट नहीं किया कि महान् से महान् कलाकार भी अपने समय तथा अपनी जाति के लक्षणों के प्रभाव से संपूर्णतया अन्ध्रता नहीं रह सकता । इसलिये जहाँ कहीं साहित्यकार की जीवनी उसकी कृति की परख के लिये ध्यान खेंचती है, वहाँ उसकी जाति तथा उसके समय की संपूर्ण जीवनी को भी ध्यान से देखना चाहिये, क्योंकि चाहे कोई साहित्यकार किसी जीवन के विरुद्ध भी क्यों न लिख रहा हो, वस्तुतः वह उसी जीवन के प्रभाव का (प्रतिकूल ही सही) परिणाम होता है । चाहे प्रत्येक साहित्यकार अपनी रचना को एक विशिष्ट, एकाकी, अनोखा-सा रंग देता है, जो उसे दूसरे कलाकारों से पृथक् कर देता है, फिर भी प्रत्येक काल की एक सर्वव्याप्त प्रवृत्ति भी अवश्य होती है, जो निजी भावनाओं, शैली, ज्ञान तथा कल्याणशक्ति के भेद को गौण करती हुई स्पष्ट

दिखाई पड़ती है। जैसा कि हमने ऊपर लिखा है कि कबोरकालीन साहित्य वर्तमान साहित्य से भाषा, विचार, शब्दों के चुनाव तथा विन्यास में, जीवन के आदर्शों आदि में, भिन्न है। सामन्त-कालीन और रजवाड़ाशाही के समय का साहित्य वर्तमान युग के लोक-साहित्य से एकदम भिन्न है। वर्तमान साहित्य में राजाओं, रानियों या परियों की, भूतों-प्रेतों की कहानियाँ नहीं होतीं, इसमें होता है सामाजिक संघर्ष का व्यौरा और जनता के हर्ष-अवसाद का, आशा-दुराशा का चित्रण। सो स्पष्ट है कि सामाजिक प्रभावों से कोई भी साहित्यकार निर्लिप्त नहीं रह सकता। केवल यही नहीं कि कालविशेष का एक सामान्य मूल-विचार तत्कालीन साहित्य में उपलब्ध होता है, अपितु यह भी कि प्रत्येक जाति तथा देश की एक सामान्य, निर्णायक प्रवृत्ति होती है, जिसे तत्कालीन सभ्यता का निष्कर्ष कहा जा सकता है उदाहरणस्वरूप अँग्रेजी, फ्रांसीसी, यूनानी अथवा भारतीय साहित्य का जिक्र करते समय, हमारे सामने कोई एक एकाकी व्यक्तित्व नहीं होता, अपितु उस साहित्य के विचार, रूप तथा प्रभाव हमारे सामने होते हैं। ये उसे अपनी जातीय संस्कृति के भीतरी अर्थों से उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार अँग्रेजी साहित्य की आत्मा वह सब कुछ प्रस्तुत करती है, जो अँग्रेज जाति की आत्मा है। भारतीय साहित्य का मूल भी वही है, जो इसको सभ्यता का मूल है। भारतवासियों के कुछ विशेष लक्षण हैं, जो संसार की किसी और जाति के नहीं, उनका अपना इतिहास, वातावरण, सामाजिक प्रथा-

पद्धतियाँ तथा साँस्कृतिक मूल्य हैं। कहीं चले जाइये, भारतवासी अपनी वास्तविकता या अपनी भारतीयता को छिपा कर नहीं रख सकता। उसमें धार्मिक प्रवृत्ति अति प्रबल तथा दृढ़ होती है। इस जीवन को वह किसी अगले जन्म की तय्यारी समझता है और पिछले जन्म के पाप-पुण्य का फल, उसके विचार में, वह इस जन्म में भोगता है। इस जीवनचक्र से मुक्तिलाभ, मुक्त होना उसके धर्म का मुख्य ध्येय है। उसकी भगवद्भक्ति में, ज्ञान-चर्चा में, योग-निष्ठा में हर ओर यही आकांक्षा प्रबल है। वह जीवों को दुःख नहीं देता और प्रत्येक उस वस्तु की, चाहे वह पशु हो अथवा कोई जड़ पदार्थ, वृक्ष, नदी आदि, जिससे उसे लाभ पहुँचता हो, वह पूजा करता है, उसे दैवी शक्ति के रूप समझता है। परम्परा में वह रंगा हुआ है और खूब गाढ़ा। और इन्हीं सब प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब आपको भारतीय साहित्य में मिलेगा।

इसलिये किसी भी जाति के साहित्य के उद्देश्य को यथार्थ-रूपेण समझने के लिये उस जाति के साँस्कृतिक इतिहास की खोज, परख आवश्यक है, जिसके लिये वह रचा गया था। इस इतिहास में कई उतार चढ़ाव होंगे। कभी एक विचार-प्रधान होगा कभी दूसरा। कभी सामाजिक शांति है तो कभी अव्यवस्था। कभी मानव, धर्म तथा रहस्यवाद की समस्याओं से संघर्ष कर रहा है तो कभी सामाजिक परिस्थितियों पर नियन्त्रण करने में तत्पर है। अभिप्राय यह कि उस जाति की समूची आत्मिक, मानसिक, भावात्मक तथा सामाजिक अवस्था का पूरा व्यौरा हमारे विचारों का

केन्द्र बन जाता है। और हम देखते हैं कि जहाँ उस जाति का इतिहास केवल उसके बाह्य कार्यकलापों, मूल्यों तथा जय-पराजय से संबंधित है। वहाँ उसका साहित्य उसके आंतरिक संघर्षों तथा दुविधाओं, आवश्यकताओं तथा न्यूनताओं, व्यवस्था एवं अव्यवस्था का प्रतिबिंब है। इस प्रकार इतिहास और साहित्य किसी जाति को अंदर और बाहर से जानने के लिये एक दूसरे पर निर्भर दिखायी देते हैं।

ऐसा कभी नहीं होता कि सामाजिक मूल्य, स्वभाव तथा आवेष्टन ही साहित्य पर प्रभाव (प्रत्यक्ष या परोक्ष) डालते हैं, अपितु साहित्य भी इन मूल्यों को निश्चित करने, उन्हें आँकने में पर्याप्त सहायक होता है। उन मानवीय आदर्शों का—जिन्हें हमने साहित्य-सृजन का एक मूल उद्देश्य कहा है—नेतृत्व और संभव ही किस प्रकार हो सकता है ?

साहित्य-रचना जीवन की ठोस सामग्री से होती है और उस का प्रयोजन भी जीवन का नेतृत्व ही है। परन्तु नेतृत्व केवल ऐसे ढंग से किया जाता है कि वह कलात्मक चेतना को परिमार्जित करता हुआ, हृदय को थकाता नहीं, उल्टे रसाप्लावित करता है। परन्तु जो साहित्य जीवन को निस्तेज करता, जीवन की गतिविधि को धीमा या मंद करता, जीवन की ओर उदासीनता उत्पन्न करता है, वह कभी भी चिरजीवी होने का दावा नहीं कर सकता। क्या कबीर की कविता पाप, अंधविश्वास, अन्याय तथा निराशावाद के विरुद्ध चुनौती नहीं है ? क्या भारतीय जीवन पर भूषण के कवित्तों

की अमिट छाप नहीं है ? क्या शेक्सपीयर, बर्नार्ड शा, दांते, गैटे, नोल्स्तोय, गोर्की, चेखव, ह्यू गो, पर्ल बक, इमर्सन, तुलसीदास एवं रवि ठाकुर के साहित्य ने सामाजिक गतिविधि और भावात्मक, नैतिक तथा मानसिक प्रवृत्तियों में कोई परिवर्तन नहीं किया ? साहित्यकारों पर केवल उनकी अपनी जाति तथा अपने देश का ही प्रभाव नहीं पड़ता, अपितु हमें विदेशी साहित्य तथा उसके मूल्य भी उनपर नित नये प्रभाव डालते हुए दिखाई देते हैं। इनके कारण जातीय प्रवृत्तियाँ भी साथ ही साथ, वैसे ही, बदलती रहती है।

यूरोप तथा इंग्लैंड के प्रभाव ने जैसे समय समय पर भारतीय जीवन पर अपनी छाप डाली है, उसी प्रकार इन देशों के साहित्य ने भी भारतीय साहित्य को नवीन दृष्टिकोण तथा लेखशैलियाँ प्रदान की हैं और इनके कारण साहित्य के रूप में विस्मयजनक परिवर्तन हुए हैं। फ्रांस, जर्मनी, इटली तथा यूनान के साहित्य ने अंग्रेजी साहित्य के निर्माण में समय समय पर बड़ी सहायता दी है। इन बाह्य प्रभावों से न किसी जाति का जीवन और न ही उसका साहित्य अछूता रह सकता है।

कई प्रमाताओं की तो यहाँ तक धारणा है कि साहित्यकार का अपना व्यक्तित्व साहित्यसृजन का निपट एक बहाना है साहित्य की मूल सामग्री किसी जाति के कालविशेष के लक्षणों तथा विरासत में मिले आत्मिक, सामाजिक स्वभाव और प्रवृत्ति का निचोड़ होती है। यह एक भ्रांत धारणा है जो साहित्यकार, जाति की

आत्मा पर अपने व्यक्तित्व की छाप नहीं लगाता अपने विशिष्ट दृष्टिकोण द्वारा—यह तभी संभव होता है जब प्रचलित मूल्यों की जाँच तोल करके उनमें काट-छाँट करने के बाद उन्हें अंगीकार करके अथवा उन्हें नये अर्थ देकर उन्हें अपने नवीन कलात्मक ढंग द्वारा सजाया जाता है—तो उसकी रचना साहित्य में अभिवृद्धि नहीं समझी जा सकती। तब भी, यह बात भी एक ध्रुव सत्य है कि 'आत्मा' पर बाह्य प्रभाव अतीव तीव्र छाप डालते हैं—और प्रत्येक साहित्य की परख में इनका ध्यान रखना उतना ही आवश्यक है, जितना किसी के व्यक्तित्व को परखते समय उसके शरीर का। और जो यह ऐसे ही है, तो हमें कालविशेष के साहित्य की कालान्तर के साहित्य के साथ अथवा भाषाविशेष को दूसरी भाषाओं के साथ विचार, शैली आदि के आधार पर तुलना करते समय, प्रत्येक भाषा तथा प्रत्येक जाति के साहित्य के विश्लेषणात्मक भाग ढूँढने में बड़ी सहायता मिलेगी।



अंत में हम लेख-शैली पर कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं। हमने ऊपर लिखा है कि सुचारु गठन के बिना कोई साहित्य कलात्मक चेतना को जगा नहीं सकता और इसके बिना साहित्य का आदर संभव नहीं। लेख-शैली साहित्य का आवरण या ओढ़नी ही नहीं है—यह तो इस प्रकार है जैसे तन का चर्म, जो तन से पृथक् नहीं किया जा सकता। सफलता प्राप्त करने के लिये प्रत्येक

साहित्य को आवश्यक तौर पर, पाठक के हृदय पर एक ऐसी छाप अंकित करनी होती है, जिसे रूपमान करने के लिये उस साहित्य की रचना की गई थी। पाठक को साहित्य पढ़ने में अनिर्वचनीय-सी आनन्द-प्राप्ति होनी चाहिये, उसकी कलात्मक चेतना दीप्त हो जाय, और केवल कलात्मक कृति के रूप में वह साहित्य का स्तकार कर सके। यह तब ही संभव होता है जब रचना में कोई क्रम और कोई अनुपात हो, तुलना तथा मेल द्वारा एक ही विचार को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि हृदय पर गहरी छाप अंकित हो जाय, शब्दों का चुनाव तथा शब्द-विन्यास ऐसा हो कि एक तो उनमें कोई गाती, प्रेरणा देती लय हो; प्रवाह, गति तथा शक्ति हो और दूसरे वह पाठकों के हृदय पर ऐसा प्रभाव जमाये, चित्रित करे कि उसके बिना साहित्य रूक्ष-शुष्क, निर्जीव, नीरस प्रतीत होने लगे। इस प्रकार प्रत्येक रचना के चारों ओर उसका एक अपना मौलिक आवेष्टन होता है—किसी प्रभाव विशेष का, जिसमें वह रचना ओत-प्रोत सी होती है। उसकी कोई भी पंक्ति पढ़िये, वह उस प्रभाव को और गहरा करती है। प्रत्येक भाग दूसरे भागों पर उसी तरह निर्भर हैं, जैसे शरीर का एक अंग दूसरे अंगों पर और सारी रचना संपूर्ण भागों पर ठीक वैसे ही निर्भर होती है जैसे शरीर अपने अंगों पर होता है। अपरिपक्व रचना जिसमें भाव अधपके से, निरुद्देश्य वहते रहे हों, जिसमें हृदय प्रवाह अथवा मूल विचारों तथा रूप का तारतम्य नहीं, जिसका शब्दविन्यास संशयात्मक, निरर्थक अथवा हास्यजनक है, जिसके

विन्यास में वैभव, परिपक्वता तथा स्वाभाविक विकास नहीं, अलंकार वासी हैं, आत्मानुभूत तथा संगत नहीं—वह रचना कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती, और प्रभावहीन रचना कभी साहित्य का पद प्राप्त नहीं कर सकती ।

इसलिये प्रत्येक कुशल साहित्यकार को शब्दों के यथार्थ मूल्य का पूरा पता होना चाहिये । शब्द तो हर भाषा के कोष में अनगिनत हैं, हर बोलने वाला मनुष्य शब्दों द्वारा ही अपने विचार प्रकट करता है तथा इस प्रकार किसी सीमा तक शब्द-ज्ञान से परिचित होता है । परन्तु साहित्यकार, मौलिक, नवीन, प्रेरणात्मक आदर्शों से स्पंदित साहित्यकार, भाषा का वैसे प्रयोग नहीं करता, जैसे वह उसे विरासत में मिली है । भाषा की सहायता से वह एकदम नये, आश्चर्यजनक प्रभावों को जन्म देता है; शब्दों को घड़ सँवार कर, आवश्यकतानुसार उनकी ध्वनि को कहीं गिरा, कहीं ऊँचा उठाकर, कहीं अधिक तीक्ष्ण, विस्तृत, कटु अथवा मधुर या भयावह बनाकर, नये समास शब्दों के प्रयोग द्वारा, क्रियाओं तथा विशेषणों के अकृतपूर्व प्रयोगों द्वारा तथा शब्दों को नये अर्थ देकर, शब्द-विन्यास तथा शब्द-क्रम में एक नया प्रवाह तथा ओज भर देता है कि सचमुच किसी रचनात्मक, कलापूर्ण रचना के जन्म की अनुभूति होती है । यह प्रत्येक लेखक की अपनी शिक्षा, शब्द-चेतना तथा विचारों की प्रचुरता पर निर्भर है कि वह इस प्रयत्न में कहाँ तक सफल होता है । साहित्य के सभी अङ्गों के लिये समानरूप शब्द उपयुक्त नहीं । उपन्यास तथा नाटक की शब्दावली

में बहुत अन्तर होता है; करुणरसात्मक रचना की शब्दावली हास्यरसात्मक रचना की शब्दावली से भिन्न होती है। कविता की भाषा गद्य की भाषा से पृथक् होती है—अधिक सुगठित, सूक्ष्मभरी तथा रहस्यमयी। प्रतिभाशाली रचना रोमांचक रचना से भिन्न शब्दावली तथा शब्द-विन्यास में बंधी होगी, क्योंकि साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों के भिन्न-भिन्न नियम तथा सीमायें हैं और प्रत्येक रचना एक ही प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने के लिये नहीं की जाती। कहीं वीररस को जगाना होता है तो कहीं शांति तथा व्यवस्था की स्थापना अपेक्षित होती है; कहीं हास्यरस ध्येय होता है तो कहीं भयावह वातावरण की सृष्टि करनी होती है; कहीं प्रेम जगाना होता है तो कहीं घृणा को जन्म देना मनोरथ होता है। इस प्रकार अवसर, विचार तथा साहित्यिक अंग के साथ शब्दावली तथा शब्दविन्यास का तारतम्य आवश्यक है। यही कारण है कि एक लेखक भिन्न-भिन्न विचारों (अथवा प्रभावों) का वर्णन करते समय, शब्दों को भिन्न-भिन्न प्रकार वरतेगा। परन्तु कोई भी अमर साहित्य-कार शब्दों के कृतपूर्व प्रयोगों को दुहराता नहीं। उसका निजीपन तथा उसको 'विशिष्टता' का विश्लेषणात्मक रंग विचारों की ताजगी के साथ ही साथ उसकी लेखशैली में से भी मिलता है—जिसके शब्दों, अलंकार-विन्यास, क्रम, विधि आदि पर कलाकार ने अपनेपन का पानी चढ़ाया होता है। शैली एक कलाकार की दूसरे पर पड़ी परछाई नहीं, यह केवल उसका अपना, ख़ास अपना प्रतिबिंब है।

कई बार बिना यह जाने कि अमुक रचना किसकी है, हम उसे पढ़ते या सुनते ही हम कह उठते हैं, यह रचना अमुक लेखक की है। ऐसा क्यों होता है ? क्योंकि प्रत्येक साहित्यकार अपने निजी व्यक्तित्व का रंग अपनी कृति में भर देता है और वह रंग हमें और किसी की रचना में नहीं मिलता। महान् लेखकों के प्रभाव से उनके उत्तराधिकारी अछूते नहीं रह सकते, क्योंकि भाषा को जो शक्ति, स्वतंत्रता, वैभव, नूतनता, महान् कलाकार प्रदान करते हैं, वह भाषा के अभिन्न अंग के रूप में भाषा की विरासत का भाग बन जाते हैं। यह किसी प्रकार भी संभव नहीं कि एक लेख-शैली किसी दूसरी शैली के आधार पर ढाली जाय अथवा उसकी प्रतिकृति, परछाईं बनकर रह जाय।

विचारों की भांति, समय के अनुसार यदि शैली को भी एक दूसरी के साथ तुलना की दृष्टि से देखा जाय, तो एक लेखक की दूसरे पर उत्तमता भट स्पष्ट हो जाती है। और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसी महान् साहित्यकार में, उसके प्रत्येक स्वतंत्रता लेने पर भी पाठक पर “प्रयत्न” का प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी शैली इतनी स्वाभाविक होती है कि हृदय बरबस पीछे खिंचा जाता है और गहरी दृष्टि तथा परख द्वारा उन सारी चतुराइयों को, जो कलाकार ने हमें नूतन रसदान के लिए प्रयुक्त की हैं, देखे बिना, इस आकर्षण का कारण भी समझ नहीं पड़ता।

परन्तु प्रत्येक शैली की उत्तमता परखने के लिए उसके रचना-काल पर्यन्त, भाषा तथा साहित्य के संपूर्ण विकास को कभी आँखों

से ओभल नहीं करना चाहिए । वर्त्तमान युग के साहित्यकार से हम जितने अधिक वाग्वैभव, शब्दज्ञान तथा विन्यास-कौशल आदि की आशा रखते हैं, उतनी हम चन्दबरदाई के समसामयिकों से नहीं कर सकते । विचारों की तरह भाषा भी नवीन-ज्ञान, मेल-मिलाप, सम्मिश्रण, परिवर्त्तन, आवृत्ति आदि द्वारा नवीन स्वतंत्रतायें लेती और अपने पंखों में नयी हवायें, उड़ानें भरती रहती हैं ।

कविता की कला

१

एक कवि के कथनानुसार, “प्रेमविभोर मानव के मधुर बोल कविता” होते हैं। परन्तु अन्यत्र इन्हीं का एक और कथन है, कि ‘अमर वाक्य गद्य में भी कविता है, कविता में दैवी गीत!’ इन दोनों व्याख्याओं से कविता की कोई निर्णायक विशेषता ढूँढी नहीं जा सकती। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रगाढ़ प्रेम में निमग्न प्रत्येक प्राणी (प्रेम चाहे उसका किसी सुन्दरी से है, किसी अदृष्ट, अभूत-पूर्व अनुभव अथवा आदर्श से है, जनसाधारण से है, प्रकृति से है अथवा अपने परिवार के साथ) प्रमाण के ठोस सत्य की अपेक्षा, कल्पना की उड़ान, मानसिक सूक्ष्म तथा भावों को अधिक मानता है और इनकी सहायता से, जो कुछ भी लिखा जाय, वह चाहे गद्य में हो या पद्य में—उसे प्रायः कविता कहा जा सकता है।

इसलिये कविता तथा गद्य में मुख्य अन्तर यह है कि कविता में विचार जिन शब्दों में गुँथे होते हैं, उन पर भावों तथा कल्पना-शक्ति का रंग बड़ा गहरा चढ़ा होता है। जैसे धरती पर पड़े पाषाण-

खंड का भार किसी छत की ऊँचाई पर जाकर भी उतना ही रहेगा, परन्तु उसकी प्रहारशक्ति बहुत बढ़ जायगी। और उसे यदि किसी गिरिशिखर से लुढ़का दिया जाय, तो गहरा घाव करने की शक्ति उसमें आ जायगी। दूर्वादल पर पड़े नीहारकण, मणिमुक्ता की भाँति चमकते हुए, आँखों को ललचाते हैं, उन्हें हाथ में समेट लीजिये, वही पानी का पानी—न वह विल्लौरी भलक, न वह पारद की सी अस्थिरता, न तारिकाओं का नयनजाल, न दूर्वा के नयन। मानव शरीर उन्हीं पाँच तत्वों—वायु, जल, अग्नि, आकाश, तथा मृत्तिका—से बना है, जिनसे बाकी चराचर जगत। विज्ञान इसे लौह, फास्फोरस, चूना, उद्‌जन, कार्बन आदि का संग्रह कहता है और उसकी प्रत्येक न्यूनता को इन्हीं धातुओं, गैसों आदि द्वारा ही पूरा करने की सिफारिश करता है। परन्तु कविता मानव की आध्यात्मिक, मानसिक, सामाजिक तथा शारीरिक आवश्यकताओं तथा न्यूनताओं के गीत केवल टोस तर्क की भाषा में नहीं गाती, (यह नहीं कि तर्क का सर्वथा अभाव होता है, अथवा विचार निरर्थक, वहम भरे अथवा कपोल-कल्पित होते हैं) वैसे विज्ञान अथवा गद्य में कविता प्रत्येक विचार को भावों में गूँथती है तथा कल्पना की उड़ान की सहायता द्वारा ऐसे अलंकारों में उसे प्रस्तुत करती है, ऐसे संगत, तीक्ष्ण शब्दों में जड़कर कि हमारी कलात्मक चेतना सिहर उठती है और हृदय किसी अनिर्वचनीय-सी हिलोर में झूमने लगता है और यह साहित्य का एक मूल उद्देश्य है। हम

जीवन को एक नवीन दृष्टिकोण से देखने लग जाते हैं, जो हमें कोरा तर्क कभी नहीं समझा सकता ।

लगभग हर कोई, जिसने कविता लिखी है अथवा उसका रसास्वादन किया है अथवा उसे परखा है, इस विचार से सहमत है । यदि कविता में भाव तीखे तथा कल्पना की उड़ान भरपूर नहीं तो वह कविता कलात्मक कृति नहीं कहला सकती । अंग्रेज विद्वान् जान्सन ने ठीक लिखा है कि कविता “तर्क को कल्पना की उड़ान के पंख लगाना है, अथवा सत्य को अभिरुचि में पिरोना है और इसका मूलतत्त्व इसको नूतनता में है ।” प्रसिद्ध अंग्रेज कवि शैली का यही मत है कि “कविता, काफी हद तक हृदय की उड़ान का प्रकट रूप है ।” हैज़लिट् इसे “तीक्ष्ण आवेगों तथा चिंतनशक्ति की भाषा” का नाम देता है । वड्सर्वर्थ तथा कोलरिज इसे “विज्ञान के प्रतिकूल, संपूर्ण ज्ञान का तत्वमूल तथा भावों और कल्पनाशक्ति की भाषा” कहते हैं ।

परन्तु यहाँ ही बस नहीं । क्योंकि कौन ऐसी साहित्यिक रचना है, जिसमें कल्पनाशक्ति तथा भावों की सहायता नहीं ली जाती ? क्या नाटक, क्या उपन्यास और क्या गल्प, सबमें कल्पना-शक्ति सापेक्ष है । क्या भावहीन गद्य को साहित्य कहा जा सकता है ? क्या जिस गद्य में भाव तीखे तथा कल्पना की उड़ान ऊँची हो, वह कविता बन जावेगी ? यदि हाँ, तो कविता की कला का निजीपन, उसकी विशेषता क्या है ? क्या ऐसा कोई पृथक् करने वाला लक्षण नहीं, जिसकी सहायता द्वारा हम भट से जान जायें

कि अमुक कृति कविता है। कविता साहित्य का एक विशेष अंग है और इसके अपने विशेष नियम हैं, जिनकी सहायता द्वारा हम इसकी ठीक परख कर सकते हैं। वे नियम कौन से हैं ?

सबसे महत्वपूर्ण अन्तर, जो चिरकाल से गद्य को पद्य-साहित्य से पृथक् करता आया है, वह इसकी लयमयी, संतुलन-बद्ध रचना है। कार्लाइल ने इसीलिये कविता को, “संगीतमय विचार” कहा है। एंडर एलन पो ने इसे “सौन्दर्य के लययुक्त अभिव्यंजन” का नाम दिया है। वाट्स डंटन तथा प्रोफ़ेसर कोर्टहोप ने “कविता को मानव हृदय का भावपूर्ण, लययुक्त भाषा द्वारा, कलापूर्ण चित्रण” कहा है।

संसार के किसी भी साहित्य (नवीन अथवा प्राचीन) को देग्विये, कविता अवश्यमेव किन्हीं विशेष नियमों के अनुसार छंदो-बद्ध लय में जड़ी होगी। कहीं कोई भावुक कलाकार, जिसकी कल्पनाशक्ति के पंख जीवन के अनुभव द्वारा बहुत विस्तृत हो गये हैं, छंदोबद्ध रचना नहीं भी करता, और फिर भी उसकी कृति को उत्तम कविता का सम्मान प्राप्त होता है। अंग्रेजी में वाल्ट हिटमैन तथा रवि ठाकुर, हिंदी में निराला तथा पंजाबी में पूरणसिंह ने इस प्रकार की कविता लिखी हैं। परन्तु जैसे हमने कहा है, यह स्वतन्त्रता वही साहित्यकार ले सकता है, जिसमें भावप्राचुर्य, विचारों की विशालता तथा उनकी नूतनता, तथा शब्दों के मूल्यांकन की तीखी सूझ हो। तब विचारों को किसी आवरण की आवश्यकता नहीं होती। गाँधीजी का बड़प्पन उनके अर्धनग्न शरीर से

और भी दुगुना होकर प्रकट होता था । पर और कौन-से ऐसे नाँगे हैं, जिन्होंने कभी हमारा ध्यान खेंचा हो ? वस्त्र वह न पहनें, जिसे वस्त्र प्राप्त न हों अथवा जिसे प्रचलित सामाजिक मूल्यों से इसलिये उपेक्षा हो जाय कि वह नये मूल्य घुड़ने के योग्य हो गया है ।

पंजाबी में पूरणसिंह के पश्चात् 'मुक्तछंद' कविता के कई प्रयोग किये गये हैं (इस माध्यम को सरल समझते हुए), परन्तु वे निर्जीव विचार...केवल शब्द ही प्रतीत होते हैं । इसलिये उन्हें कविता की पदवी नहीं दी जा सकती । प्रायः अनुभव से यही देखा गया है कि जब हम किसी गहरे भाव की पकड़ में होते हैं, तो संतुलन में गाते हैं, बोलते हैं । भाव चाहे ह्लाद का हो, चाहे अवसाद का । जनसाधारण में भी कवित्त, सवैया, होरी आदि को संतुलन में गाने की तीव्रता होती है । राग का अपना संतुलन होता है, जो सारंगी की प्रत्येक तार में से, गायक की कंठध्वनि में से फूट फूट कर निकलता है । वरुणों का अपना ताल, सुरमेल है, जिसे प्रत्येक चित्रकार, कोई प्रभाव-विशेष अंकित करने के लिये बरतता है । स्थापत्य कला में गोलाई, लम्बाई, रूप और रेखा, खुदाई आदि का अपना अनुपात, तालमेल होता है । सैनिक इकट्ठे प्रयाण कर रहे हों, उनकी गति एकरूप, नियमित होगी । हर सांस लेता एकाकी मनुष्य अपनी नब्ज की "टिक, टिक" देखे, कितनी नियमित होती है वह । सूर्य, चन्द्र, धरती, आकाश, तारे, अभिप्राय यह है कि सकल गतिशील, प्राणवन्त पदार्थ किसी व्यवस्था में बँधे

हुए हैं। जिम शरीर, फूल, पौधे की रचना में अनुपात अथवा ताल-मेल नहीं, वह हृदयहारी कभी नहीं हो सकता।

तब तो साहित्य के अंगमात्र के जो विशेष नियम हैं, उनका उल्लंघन उन्हीं के लिये उचित है, जो अपनी क्रमहीनता में से भी कोई क्रम, तालमेल उत्पन्न करके रसदान कर सकते हों !

यह ठीक है कि प्रत्येक संतुलन-वद्ध रचना को कविता नहीं कहा जा सकता। संतुलन तो पिंजर है, प्राणहीन। जब तक उसमें कविता के बाकी अंग-भाव तथा कल्पना-शक्ति विद्यमान नहीं। परन्तु भाव तथा कल्पना-शक्ति ही जहाँ गद्य को काव्यमय बना देते हैं, वे उसे कविता नहीं बना सकते, जब तक उसे कविता के नियमों के अनुसार ढाला न जाय। किसी इक्के-दुक्के व्यक्ति का इस नियम से ऊपर उठ जाना, इस सामान्य नियम को रद्द नहीं करता। कार्लाइल ने इसीलिये कहा है कि “पुराना जंगली अंतर, जो कविता को गद्य से पृथक् करने के लिये, इसमें राग तथा संतुलन का होना आवश्यक बताता था, पर्याप्त अर्थपूर्ण है।” मैथ्यू आर्नल्ड जो कविता को “जीवन की समोक्षा” कहकर पुकारता था, भी यही कहता है कि “विशेष नियम में बँधा हुआ, परिमार्जित, शक्ति-संपूर्ण कविता का राग, गद्य में अपेक्षित प्रवाह तथा संतुलन से सर्वथा भिन्न है, और यह कविता को उत्तम बनाने में बड़ी सहायता देता है।” संतुलन (जो नियमितता तथा अनुपात का निष्कर्ष होता है) कविता को एक विशेष अंग है। मानव जाति जिसे गुणगुनाती, गाती नहीं, उसे कविता का नाम नहीं देती। और यह

ठीक है। यदि साहित्य-रचना मानव-हृदय का नेतृत्व करने तथा उसकी कलात्मक-चेतना को स्पंदित करने के लिये है, यदि साहित्य संभ्रान्तवर्ग के श्रेष्ठतम नायकों के मनोरंजन की सामग्री नहीं, अपितु जीवन से जूझ रहे कामगारों, किसानों के लिये की गई लोकरचना है, तो उसका 'काव्यत्व' सर्वप्रथम उसके संतुलन से ही परखा जाना चाहिये।

यह ठीक है कि एक भाषा की कविता का दूसरी भाषा में अनुवाद हो जाने पर, कविता का 'काव्यत्व' विद्यमान रहता है। परन्तु उमदा जो आकर्षण मूल में है, वह अनुवाद में कभी नहीं लाया जा सकता। कविता को नियमबद्ध करते समय उसे एक नयी छेनो से लंबा या छोटा करना, तराशना पड़ता है। फलस्वरूप, उसका प्रभाव ही किसी नवीन रूप में प्रकट होता है। यह आवश्यक नहीं कि संतुलन पुराने ही प्रयुक्त किये जायें। भावों को मुख्य रख कर (और जो प्रभाव उत्पन्न करना है, उसे भी जाँच कर) नवीन संतुलन ढड़े जा सकते हैं। परन्तु साधारणतया कविता के लिये संतुलन से पिंड नहीं छुड़ाया जा सकता। शिखर ने गैटे को तभी तो लिखा था, "यह देख कर, मुझे आश्चर्य हो रहा है (गद्य के एक खंड को कविता का परिधान पहनाते हुए) कि कविता का परिधान उसके प्राणों से कितना अभिन्न है ! मुझे विचारों के वे भावतत्त्व, जो गद्य में उपयुक्त प्रतीत होते थे, कविता में एकदम बदल देने पड़े, क्योंकि कविता कल्पनाशक्ति

पर बराबर भार डालती है, इस लिये मुझे कई बार भावों में भी काव्यमय होना पड़ा है ।”

इस लिये आवश्यक है कि केवल तर्क की पुष्टि के लिये अथवा कोई घिसा-घिसाया विचार प्रकट करने के लिये कविता में संतुलन का उपयोग नहीं किया जाता । और इसके प्रतिकूल, चाहे भाव-पूर्ण, तथा कल्पनाशक्ति के पंखों पर उड़ानें भरते हुए विचारों को गद्य में बाँधा जा भी सके, तो भी उसे कविता में ही अभिव्यक्त करना चाहिये । क्योंकि संतुलन में बाँधना ही शब्दों को एक नूतन शक्ति प्रदान करता है । ऐसा क्यों ? इसका निर्णय पाठक स्वयं कर सकते हैं अथवा कोई मनोविज्ञान-विशारद । यह परस्व के क्षेत्र से परे है ।

२

इस प्रकार कविता कल्पनाशक्ति तथा भावों की संतुलनबद्ध अभिव्यक्ति है । इन तीनों अंगों के कुशलतापूर्वक सम्मिश्रण से रचना में कलात्मक अभिरुचि जगाने की शक्ति अवश्य आ जाती है । पदार्थों का यथार्थरूप चित्रण, उनकी आधिभौतिक बनावट का विस्तार, उनके प्रकट गुण-दोष, उनकी विशेषतायें, बाकी प्रकृति से उनका संबंध, उनके वर्गभेद, किन परिस्थितियों में तथा किस विधि से उनका निर्माण हुआ, जैसे हमें वे स्थूल, जड़ रूप में दिखाई देते हैं—यह सब विज्ञान का कार्यक्षेत्र है । एक ठोस सत्य को खोज कर उससे साधारण नियम और इस प्रकार

प्रत्यक्ष, अस्त-व्यस्त सामग्री में से कोई नियम, क्रम, कानून ढूँढ लेना—यहाँ विज्ञान का क्षेत्र समाप्त हो जाता है और कविता का क्षेत्र प्रारंभ हो जाता है । विज्ञान क्रियामात्र के लिये ठोस प्रमाण प्रस्तुत करता है, तर्क की भाषा में बोलता है, और जीवन के सार्थक, उपयोगी भाग के साथ अपना सारा नाता जोड़ता है । कविता प्रकट प्रकृति का वर्णन इस प्रकार करती है, जैसे वह हमारे भावों, प्रवृत्तियों, कलात्मकता (या जिसे 'भोतरी दृष्टि' कहा जाता है) को प्रेरित करती, जगाती, भंभोड़ती है । हम किसी पदार्थ के ज्ञातव्य को संपूर्णरूपेण जानते हुए भी, उसके सौन्दर्य तथा उसके विस्मयात्मक अंग पर बलिहारी जाते हैं । जैसे जैसे हम उसकी स्थूल रचना के बारे में और ज्ञान प्राप्त करते हैं, हमारा आश्चर्य और बढ़ता जाता है । ऐसा क्यों होता है ? किस लिये होता है ? रचना को अंतहीनता तथा उसका विस्तार, उसकी बहुविधता, उसकी नियमितता, उसकी आकर्षक रमणीयता,—हम सब को आकर्षित करते हैं, परन्तु कुछ अवकाश की कमी, कुछ जीवन की "भागो-दौड़ो", कुछ सूझ की कमी, हमारे भीतर नित्यप्रति उठने वाले भावों को कोई सही ठोस नेतृत्वपूर्ण रूप देने से वंचित रखते हैं । यह कार्य किसी प्रतिभाशाली कलाकार कवि का है कि वह इन भावों को कोई निर्णायक रूप दे, इनके भावात्मक तथा आत्मिक गुणों को उजागर करे, हमारे प्राणों में कोई नई भंकार छेड़ दे, परछाँहियों के पीछे छिपे सौन्दर्य को, उसके भरोखे खोल खोल कर,

ऐसे ढंग से, हमारे सामने रखे कि हम प्रभावित हों, रसाप्लावित हो जायें और कोई नूतन सत्य हम पर प्रकाशित हो जाये। जो कविता हमारे हृदय में कोई अतिनूतन, विस्मयपूर्ण, तीक्ष्ण भाव नहीं उपजाती, वह कविता नहीं कहला सकती। वह भाव रचनात्मक, जीवन से नाता जोड़ने वाला, जीवनसंघर्ष को और मधुर, सुहावना, प्रेमपूर्ण, आदर्शवादी बनाने वाला होना चाहिये, नहीं तो वह साहित्य नहीं, साहित्य का नाममात्र होकर रह जायगा।

प्रत्येक कलापूर्ण रचना का (रचनामात्र की भांति) कोई उद्देश्य होता है। प्रकृति की कोई भी वस्तु अनावश्यक नहीं, अनियमित नहीं। धरती, आकाश, सूर्य, चन्द्र, तारे, जल, वायु, कौन-सी वस्तु है, जो नियमहीन हो, स्थावर हो अथवा उपयोगी न हो और सबसे बढ़कर सुन्दर न हो। कौन-सा पौधा, फल, फूल, सब्जी, अनाज, घास आदि है, जिसका कोई उपयोग न हो? जिन विषैले कीड़ों का कोई उपयोग नहीं दिखाई देता, वे भी किसी न किसी पशु का आहार हैं। प्रकृति अपने आपमें एक संपूर्ण नियम है। प्राणीमात्र की आवश्यकता-पूर्ति के लिये, इसमें बहुत कुछ है। अभाव केवल ज्ञान का है। पदार्थों के स्थूल रूप के ज्ञान से हमें विज्ञान की उपलब्धि होती है, उनका आंतरिक, आत्मिक रहस्य हमें कविता द्वारा उपलब्ध होता है। साहित्य के बाकी अंग भी, इसी आदर्श की पूर्ति करते हैं। किन्तु इस कार्य की सर्वाधिक पूर्ति कविता करती है क्योंकि तर्क की अपेक्षा भावों की तीव्रता द्वारा यह हमें झट से जगाती, चुनौती देती है। अवकाश की घड़ी

में मनुष्य गुणगुनाता, इस द्वारा प्रेरित होता रहता है । इसकी उड़ान, प्रायः छोटी, किसी चमेली के फूल की तरह होती है, बट-वृक्ष की घनी छाँह की तरह नहीं (जिसका आनन्द सदा उसके नीचे बैठकर ही लिया जा सकता है) । इसकी भीनी सुगंध सदा हमारे साथ चलती है । इसे हम अपनी पगड़ी में खोंस लेते हैं, कंठ-ध्वनि में, मस्तिष्क के किसी कोने में रख लेते हैं और जब जी चाहता है, पढ़कर आनन्द प्राप्त कर लेते हैं, न केवल आनन्द अपितु उत्साह, जीने की तीव्र आकांक्षा, भावों का कोई तीव्र प्रवाह ।

इसके लिये कवि कई ढंग बरतता है । वह पदार्थों को उनके प्रतीकात्मक रूपों (symbolic forms) में प्रयुक्त करता है, उन्हें उनके प्रत्यक्ष रूपों में प्रयुक्त नहीं करता, अपितु वैसे, कवि के आदर्श के साथ समीचीन रूपों में । इसको हम काव्यमय सत्य (Poetic truth) कहते हैं । काव्यमय सत्य से भाव यह है कि कवि पदार्थों की प्रकट विशेषताओं की अपेक्षा उनसे उत्पन्न हो रहे विस्मयभाव, धर्मभाव, दुख-सुख, कलात्मकता, रहस्यवादिता, उनकी हमारे जीवन के लिये हृदयहारिता, तथा उनके अर्थों को ज्यूं का त्यूं आलोकित कर देवे । देखने वाली बात यह है कि कवि का वर्णन हमारे हृदय में ध्वंसात्मक भाव न जगाये, जिन्ह के कारण, जीवन में विकसित होने, विस्तृत होने, कुछ निर्माण करने की अपेक्षा, जीवन की ओर से उदासी, विरोधिता, तथा केवलमात्र सहम अथवा निराशा उत्पन्न हो जायें ।

घास पर पड़े नीहारकण, जो केवल जलबिन्दु ही होते हैं,
कवि के शब्दों में,

“वसुधा पर ओस बने बिखरे,
हिमकन आँसू जो क्षोभ भरे,
ऊषा बटोरती अरुण गात” (प्रसाद)

वन जाते हैं । और बीते जीवन को एक स्मृति (जीवन को
स्मृतियाँ भूलती किसे हैं ?) का कैसा रमणीय चित्र है :—

“शशिमुख पर घूँघट डाले,
अंचल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आये” (प्रसाद)

प्रकृति-वर्णन में एक और कवि फूलों को गिरिराज के नयन
बनाता हुआ कहता है :—

“मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस्र दग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार,
नीचे जल में निज महाकार”

—जिसके चरणों में पला ताल

दर्पण सा फैला है विशाल” (पंत)

पर्वत मेखला बन गये हैं और अपने सहस्रों नयनों द्वारा नीचे
दर्पण में देख रहे हैं—और दर्पण भी कैसा—ताल ही दर्पण है ।

पतिव्रता पत्नी पति के चरणों में नतशिर होती थीं. कई अब

भी ऐसा ही करती हैं। जीवन का यह तथ्य, अतिसाधारण है, सामान्य-सा, परन्तु उर्मिला का लक्ष्मण को प्रणाम करना, गुप्त जी को ऐसा प्रतीत नहीं हुआ। वे कहते हैं :—

“चूमता था भूमितल को अर्द्ध-विधु सा भाल,
बिछ रहे थे प्रेम के दृगजाल बनकर बाज,
छत्र सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ।”

अथवा उषा का निम्नलिखित वर्णन पढ़िये,

“उषा सुनहले तीर बरसती,
जयलक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित कालरात्रि भी,
जल में अंतर्निहित हुई।” (प्रसाद)

इस प्रकार की कविताओं में संतुलन की नियमितता चाहे किसी समय न भी हो, परन्तु एक शक्ति, एक लय, एक प्रवाह-सा होता है, जो कानों को सुखद प्रतीत होता है। परन्तु इससे भी अधिक भावों तथा कल्पनाशक्ति का जो रंग इसमें है, जैसे सीधे-सादे शब्दों को नये अर्थ दे दिये गये हैं, जैसे निर्जीव दिख रही प्रकृति को रस-रंग-ताल की सूझ, होंठ तथा प्रेम की आकांक्षा दे दी जाती है, जैसे कल्पनाशक्ति की सहायता से मानव-सौन्दर्य के प्रतीकों, अभिरुचियों को नैसर्गिक भाषा में रूपमान किया जाता है, वह कविता का चमत्कार होता है।

परन्तु यह प्रत्यक्ष है कि जितने भी उदाहरण हमने ऊपर दिये

हैं, उनमें विज्ञान के मूल सिद्धान्तों को कहीं भी झुठलाया नहीं गया । आदर्शवादी होने के नाते (जो साहित्यकार को होना चाहिये), हमारे भावात्मक तथा आध्यात्मिक जीवन को प्रेरणा देनेवाले परिणाम चाहे अलग अलग निकाले गये हैं, फिर भी विज्ञान के किसी तथ्य को आँखों से ओझल नहीं किया गया । अपितु पदार्थों के भौतिक गुणों, विशेषताओं को जानने के लिये उनसे प्रेरणा ली गई है । यह एक प्रकट सत्य है कि बुझा हुआ कोयला, काला होता है, तथा आग में डालने पर, लाल हो जाता है; यह विज्ञान का आविष्कार है कि समुद्र में आनेवाले ज्वारभाटे, चंद्रमा तथा धरती की आकर्षणशक्ति के अंतर का परिणाम हैं । परन्तु विज्ञान यह सब कुछ समझा कर बस कर देता है । कविता इससे आगे जाकर इन तथ्यों को दृष्टान्तस्वरूप, प्रतीक के रूप में, रखकर, इनके आधार पर नयी रचना खड़ी कर देती है, जो एक नये दृष्टिकोण से हमारा आध्यात्मिक, भावात्मक तथा मानसिक नेतृत्व करती है, आनंद देती हुई, रस में डुबोती हुई । यह किसी असाधारण हृदय की यूँ ही, अवकाश के समय में रचित कृति नहीं होती । पदार्थों का यथार्थ, स्थूल रूप में सार्थक वर्णन जीवन के लिये उतना ही लाभ-प्रद होता है, जितना पदार्थों का, दूर दृष्टि से किया, भावों से ओत-प्रोत वर्णन परन्तु जब कोई कवि अपनी कल्पना की उड़ान को विज्ञान के तथ्यों के प्रतिकूल ले जाता है, तो विस्मयजनक आह्लाद की उत्पत्ति की अपेक्षा एक अवसाद का भाव सा उत्पन्न हो जाता है । और ऐसे पद्य को 'काव्यमय सत्य' की सीमा से परे

समझा जाता है। किसी दृष्टिकोण को समझाने के लिये, कल्पना की विज्ञानविरोधी उड़ान का प्रयोग अनुचित है, परन्तु निम्न-लिखित पद में कवि की कल्पना, विज्ञानविरोधी होते हुए भी कल्पनाशक्ति का उचित उपयोग है।

“काली कोयल, तू किन गुन काली

अपने प्रियतम के बिरहों, उवाली।” (नानक)

कोयल की उदासी तथा उसके काले रंग का कारण ढूँढता हुआ, कवि उसे विरह की उपज बताता है, जो जीवन का साधारण अनुभव है, कोयल के काली होने का कारण, चाहे यह न भी हो। इस प्रकार कवि को अपनी कल्पनाशक्ति के पंख पसारते समय केवल कपोलकल्पित अथवा वहमी उपमाओं और प्रतीकों से वचना चाहिये। किसी वस्तु के रंग, उसके स्वभाव, आकारादि को तथा प्रतीकात्मक रूप में विशिष्टता आदि को उदाहरण बनाने से पहले यह जाँच लेना चाहिये कि जो प्रभाव, आदर्श, वातावरण कवि उजागर करना चाहता है, दृष्टांत उसके ठीक अनुकूल है। यदि कवि मानवीय आदर्शों के नेतृत्व के लिये, साहित्य रचना करनी चाहता है, तब उसके लिये और भी आवश्यक है कि वह हमारी मानसिक सूक्ष्म को उतना ही प्रेरित करे, जितना वह हमारे हृदय तथा हमारी कल्पनाशक्ति को करता है।

यह ठीक है कि विज्ञान के किसी तथ्य को प्रचलित होकर मनुष्यमात्र तक उसके प्रसिद्ध होने के लिये समय अपेक्षित है। वर्तमान युग में विज्ञान की प्रगति इतनी तेज़ हो रही है कि कवि के

लिये नित्यप्रति की वैज्ञानिक गवेषणाओं के साथ कदम मिलाकर चलना असंभव है। इसलिये कवि पदार्थों के परंपरागत गुणों, मूल्यों का देर तक उपयोग करना पसंद करता है। ज्ञान को भावों में रंगने के लिये पर्याप्त समय चाहिये, नहीं तो रचना का लाभ मानवजाति को बहुत देर बाद मिलेगा।

सब कुछ कह कर भी, हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक पदार्थ कविता की सामग्री बन सकता है, यदि उसका कोई भावात्मक, आध्यात्मिक अथवा मानसिक अर्थ समझाया जा सके (चाहे वह प्रकृति की कोई सामान्य कारीगरी हो, जीवन की विशेष घटना हो, प्रेम की तड़प अथवा मिलन हो, आत्मा की कोई हिलोर अथवा बुद्धि का कोई रहस्य हो या नैतिकता का कोई पहलू; शर्त यह है कि उसे शुष्क ज्ञान, तथा सूझ की निर्जीव सीमा से परे, प्राण-संचार करती कल्पना की उड़ान के ओज में फैलाया जा सके। परन्तु उसके ठोस निर्णयात्मक गुण-दोषों का ज्ञान होना भी कवि के लिये उतना ही आवश्यक है, जितना कविता के बाकी औजारों का, विधिनिपेधों का। नहीं तो कविता एक हास्यमय भंकार अथवा वहमभरी रचना ही रह जावेगी।

३

इस प्रकार हम कवि से किसी ऐसे विशेष दृष्टिकोण अथवा विषय-विशेष की आशा नहीं रखते, जो हमारा अभीष्ट हो, हम यह भी नहीं देखते कि वह हमारे किसी विचार की पुष्टि करवा सकता

है या नहीं, कि वह किसी विषय को अपनी कविता का ध्येय बना सका है या नहीं, क्योंकि अंततोगत्वा उसने इसी कसौटी पर परखा जाना है कि उसने अपने विचारों को किस कुशलता से कविता में गूँथा ('कुशलता' के उपयोग को प्रकट किये बिना), उसने कितने नवीन, आत्मानुभूत, अपने परखे हुए तथा संगत अलंकारों, प्रतीकों, इंगितों द्वारा अपने विचारों को प्रकट किया, उसके शब्दों का चुनाव कहाँ तक उसकी कविता के मूल उद्देश्य के अनुकूल था, क्या कवि शब्दों द्वारा वैसा ही वातावरण उत्पन्न कर सका, जो वह उत्पन्न करना चाहता था । प्रेम, उदासी, युद्ध, मानसिक दुबिधा, आत्मिक विह्वलता, स्वाभाविकता, हास्यरस, सामाजिक अथवा निजी आवश्यकतायें, न्यूनतायें, प्रत्येक विषय कविता का मूल उद्देश्य बन सकता है । प्रत्येक उद्देश्य के लिये कुशल कलाकार, अधिक से अधिक निजी होने का प्रयत्न करेगा—क्या शब्दों के चुनाव में, क्या संतुलन सृष्टि में और क्या अलंकार-विन्यास में, और कला में उसकी प्रवीणता का मूल्य आँकने के लिये हम यह देखेंगे कि क्या यह रचना वही प्रभाव प्रत्येक रसज्ञ के हृदय में, सफलतापूर्वक उत्पन्न करती है, जो उसका अभीष्ट था ? इसमें वह नूतनता, वह आत्मीयता, कितनी है ? जिसे वह इस रचना में प्रकट करना चाहता था ? क्या इस रचना की अभिव्यक्ति अभूतपूर्व है ?

हमारा अभिप्राय यह है कि प्रत्येक कविता अपनी भीतरी कला के श्रेय से ही उत्तम या निम्न श्रेणी की सिद्ध की जायगी । परन्तु

इसका यह भाव कदाचित् नहीं कि 'कला' केवल कला के लिये ही अभिव्यक्त की जाती है । यदि जीवन केवल जीने के लिये ही नहीं, तो उसका कोई सार्थक, रचनात्मक, आदर्शमय लक्ष्य ढूँढा जाना चाहिये, (विशेषतया जब प्राणी अपने बड़प्पन का दावा करे), यदि सौंदर्य केवल अपने आपके लिये ही नहीं, अपितु समाहित होने, रस दान करने, सौंदर्यबोध प्रसारित करने के लिये है, तो 'कला भी केवल कला के लिये' नहीं, इसका भी कोई आदर्श होना चाहिये, और प्रत्येक महान् कलाकार के बारे में हम ऐसा निश्चयपूर्वक कह सकते हैं ।

यह तो हम जानते हैं कि प्रायः कोई भी कविता केवल इसलिये नहीं लिखी जाती कि उसमें शब्दों की भंकार है, जिससे कर्णरस प्राप्त होता है, अथवा अलंकारों की नवीनता है, या मानवहृदय को पराजयवादिता की ओर लेजाने की शक्ति है । यह भी देखा जा सकता है कि प्रत्येक कविता किसी न किसी मूलविचार के धुरे के चारों ओर घूमती है । और यह भी कोई अकारण घटना नहीं है कि प्रत्येक महान कवि (जिसकी रचना, उसके पश्चात् भी चिरकाल तक जीवित रहती है) का अपना, अलौकिक दृष्टिकोण होता है, जो उसकी लगभग सभी उत्तम, परिपक्व रचनाओं में ढूँढा जा सकता है । यह ठीक है कि आयु तथा अनुभव में वृद्धि द्वारा इस दृष्टिकोण में कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहते हैं और कई बार एक ही कवि का दृष्टिकोण, सर्वथा बदल भी जाता है । परन्तु उसके हृदय की परख हम वहाँ करेंगे, जहाँ उसकी सर्व-

श्रष्ट तथा सबसे परिष्कृत रचना होगी । इसलिए हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कोई भी कवि, जो जीवन को कोई दृष्टिकोण देने में असमर्थ है, कविता लिखने का अधिकारी नहीं । दार्शनिक, काल्पनिक, शिक्षादायक रचना के विरुद्ध हमारी शिकायत यह नहीं होती कि वह हमें कोई दृष्टिकोण क्यों देती है, अपितु यह होती है कि उसमें कला का अभाव क्यों है । कविता क्यों कम है ? रचना में कुशलता का अभाव क्यों है ? दृष्टिकोण का चित्रण काव्यमय क्यों नहीं ? क्योंकि जहाँ प्रत्येक कविता शताब्दियों पर्यन्त कलात्मक अभिरुचि जगा सकती है, वहाँ उसके चिरजीवो होने का रहस्य उसके मूल-विचार में छिपा होता है । हम क्यों जोते हैं ? हम कैसे जियें ? इन प्रश्नों के उत्तर हम प्रत्येक धर्म, समाज, व्यक्तित्व तथा कलात्मक कृति से माँगते हैं । कई 'कलाकार' तो कबाड़ियों अथवा पेशेवर सौदागरों की भांति पुराने वहमभरे, घिसेघिसाये विचारों, मनोकल्पनाओं को (जीवन जिन से बहुत आगे निकल चुका होता है) ही चमका कर, अपने बड़प्पन का प्रमाणपत्र माँगते रहते हैं । फलस्वरूप, साहित्य में उन विचारों के विरुद्ध एक विद्रोह उठ खड़ा होता है और 'उमरखय्याम' के साथ कवि गा देता है :

“कि दो मदिरा मुझे,

मैं अपने पापों को धो दूँ;

जो समय मैंने मस्जिद में बिताया है,

उसका प्रायश्चित्त मैं अब मधुशाला

के उन्मादक द्वार पर करूँगा ।”

और या हम केवल शब्दों की भंकार तथा संतुलन-रस को कविता का नाम देकर उस पर भूमने लग जाते हैं । दोनों अवस्थाओं में हम अपने आपको धोखा देते हैं, जीवन को धोखा देते हैं । जो कविता नैतिकता-विरोधी है, वह जीवनविरोधी भी है, उसे कला कहलाने का कोई अधिकार नहीं । प्रत्येक महान् कलाकार शताब्दियों तक, जीवन को भंभोड़ता, प्रेरणा देता है । कोलरिज के कथनानुसार, “कौन-सा कवि ऐसा है, जो दार्शनिक नहीं था ?” लैंडर कहता है, “हम छोटी छोटी चीजें सुन्दरतापूर्वक लिख सकें, और उन्हें एक दूसरी पर जोड़ते जायें; परन्तु हम महान् कवि तभी बन सकते हैं, यदि एक महान् व्यथा को, हम प्रभावपूर्ण शैली में, सविस्तार गा सकें ।” जो कोई भी हरे-भरे खेतों का कवि है, अथवा प्रसन्नचित्त समाज का, प्रेमियों का अथवा अवकाशभोगियों का, वह वही कुछ रहेगा, और कुछ नहीं बन सकता । परन्तु भूमिपतियों के सिंहासन विहग-नीड़ों से नहीं बनते, और न ही सहस्र तृणों से कभी वंशी बनी है । एक गीतिकाव्यात्मक कविता किसी पत्ते पर, किसी बकरी के निरीह बच्चे पर अथवा लाल चक्रंदर पर भी लिखी जा सकती है । परन्तु महान् कवि का कर्तव्य यह है कि वह महान् ध्येयों, भावों को अपनी पकड़ में ले और एक शक्तिशाली चुनौती देकर उनसे अपनी शंकाओं का समाधान कराये ।

परन्तु हमें यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिये कि कवि किसी पुरोहित, पुजारी अथवा कथाकार, या उपदेशक का काम नहीं करता। क्योंकि जहाँ इनका काम शिक्षा, सम्मति देकर नेतृत्व करना है, कवि का काम हमें भंभोड़ना, जगाना है, विस्मयात्मक विकास तथा भावों की भाषा और प्रतीकों द्वारा। यह एक महान् अंतर है दोनों में, जो एक को दूसरे से पृथक् करता है।

इस लिये कविता (अथवा साहित्य के किसी और अंग) की परख के लिये हमें सर्वप्रथम अपना ध्यान लेखक की ओर देना चाहिये, उसके व्यक्तित्व की ओर और जीवन के बारे में उसके दृष्टिकोण की ओर अथवा उसकी जीवन की निजी अभिव्यक्ति की ओर, जिसका रहस्य उसने पाया हो अथवा जिसे पाने के लिये उसमें उत्साह हो। कवि की कला का चाहे कितना ही महत्त्व है, उसकी ऐतिहासिक विशेषता तथा मूल की परख भी कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, किसी कवि की समूची कृति के मूलविचार अथवा दृष्टिकोण को कभी भी आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता।

संसार की सारी महान् रचनाओं के लेखक दृष्टिकोण में भी संसार के लिये नये मार्ग प्रशस्त करते रहे हैं। गीता, रामायण, बाइबल, गुरुग्रन्थ आदि धर्मग्रन्थ; शेक्सपीयर, गैटे, दांते, मिल्टन, शा, इलियट, तोल्स्तोय, रबि ठाकुर, गोर्की, चेखव, ह्यू गो, इमर्सन आदि विश्वविख्यात लेखक हमें पग-पग पर जीवन के रहस्य समझाते, जीवन को और भी उपयोगी, सर्वाङ्गीण, जीने के

योग्य बनाते हुवे, रस द्वारा जीवन का नेतृत्व भी करत जाते हैं, जो उनकी महिमा में चार चाँद लगाता है ।



कविता को साधारणतया दो भागों में विभक्त किया जा सकता है । एक वह जिसमें कवि अपने निजी अनुभवों, विचारों, भावों द्वारा प्रेरित, उत्साहित होता हुआ कविता की सृष्टि करता है । दूसरा वह जिसमें कवि बाह्य संसार के चमत्कारों आदि को उजागर करता है । पहली प्रकार की कविता आत्माभिव्यक्ति की कविता है, दूसरी बाह्याभिव्यक्ति की । एक अंतर्मुखी है, दूसरी बहिर्मुखी । एक सहती है, दूसरी देखती है । एक कवि के अंतःकरण के पट समाज के लिये खोलती है, दूसरी समाज को कवि के लिये अनावृत कर देती है । पहले में हम गीत, पद आदि को गिन सकते हैं, दूसरे में कथा, वर्णनात्मक कविता आदि को ।

गीत भी कई प्रकार का हो सकता है । हृदय के भिन्न भिन्न आवेगों, भावनाओं, लालसाओं के लिये भिन्न भिन्न गीत होते हैं । मृत्यु, युद्ध तथा विरह के प्रेमपरिपूर्ण गीत देश तथा प्रकृति पर बलिहारी जाते, सावन की बदरी में साजन के विदेश में होने पर कजरी आदि, भूला भूलती युवतियों के गीत अथवा शीतकाल की धूप में चर्खा कातती हुई स्त्रियों के गीत या यूँ ही अवकाश के समय गाये जाने वाले, वी ब्याह-शादी के समय के गीत अथवा

खेतों में जब फसल पक कर सोना बन लड़लहाता है और किसान भूम भूम के गाते हैं आदि ।

सवैया, कुंडलिया, कवित्त, दोहा आदि में प्रायः धार्मिक भावों के गीत लिखे जाते हैं । इन सबको हम गीतिकाव्य (Lyric Poetry) कह सकते हैं ।

गीतिकाव्य का सर्वप्रधान गुण, उसके भावों की उत्तमता तथा उनकी सचाई होती है । भावों द्वारा कवि अपने हृदय की गहराइयों में से, हमारे साथ, बड़े समीप की भाषा में बातें करता है । उसमें कोई परायापन अथवा दूरी नहीं होती । हृदय की सीधी बातें हमारे हृदय से की जाती हैं । कवि के संपूर्ण व्यक्तित्व के चिह्न उस पर पूरे के पूरे चित्रित होते हैं । दूसरे, क्षेत्र में छोटी, यह कविता भावों को घने, परिमित ढंग से चित्रित करती है । विस्तार गीत के प्रभाव को नष्ट कर देता या घटा देता है । इसीलिये गीत इंगितों की रहस्यमयी भाषा बोलते हैं और बहुत कुछ नहीं भी कहते । इसमें केवल एक, मूलध्येय का ही वर्णन होता है, जो केवल एक प्रभाव को हमारे हृदय पर अंकित करता है । प्रभाव की एकता गीतिकाव्य के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितना उसका निजी, विशेषतात्मक रंग । और न केवल इसके अलंकार तथा शब्द-विन्यास तीक्ष्ण और हृदयहारी होते हैं, अपितु उनका मूल वक्तव्य से एक गहरा सम्बंध तथा तालमेल होता है । इसीलिये कहा जाता है कि प्रत्येक गीत का अपना वातावरण होता है । अलंकार तथा भाषा, भावों और मूल-विचारों की तरह होते हैं । अर्थात् गीतिकाव्य में सामूहिक रंग की

अपेक्षा, एक निजी, “विशेषतात्मक” रंग होता है, क्योंकि गीत हृदय-व्यथा का संगीत है। इसलिये गायक या कवि की भाषा तथा विचारों को, जितने स्वाभाविक ढंग से गीत प्रकट करते हैं, उतने ही वे सफल समझे जाते हैं। दृष्टान्तस्वरूप, पार्वत्य प्रांतों के गीतों में न केवल उन अंचलों की उपभाषाओं का प्रयोग किया जाता है, अपितु उन अंचलों की प्रेमभरी स्मृतियों, इतिहास, प्रथा-पद्धतियों, रहन-सहन आदि को भी कविता के गात्र में गूँथा जाता है। परन्तु केवल संकेतमात्र, वातावरण उत्पन्न करने के लिये, प्रभाव को गहरा करने के लिये। प्रायः यह कविता गेय होती है, फिर चाहे यह किसी वाद्ययंत्र की सहायता से गायी जाय या मौखिक हो। परन्तु इसका रागमय होना आवश्यक है। इसलिये उसके शब्दों अलंकारों में सादगी ठोक-ठोक कर भरी होती है और कला के बरते जाने पर भी कला का अनुमान हृदय को बिल्कुल नहीं होता।

इसलिये ‘अपनापन’ अथवा विशिष्टता गीतिकाव्य का विशेष अंग है। परन्तु संसार का अधिकतर गीतिकाव्य केवल ‘निजी’ अथवा “अहमात्मक” नहीं है। उसमें उस सबका भी पर्याप्त वर्णन है, जो अधिकतर मानवीय है, न कि व्यक्तिगत अथवा जो किसी एक अकेले का व्यक्तिगत अनुभव है। कविता के प्रारंभ के बारे में पता करते हुए हमें यह भी पता चलता है कि कविता सर्व-प्रथम वर्ग तथा जाति की मनोभावनाओं को मूर्त्त करने के लिये प्रकट हुई, न कि व्यक्ति-विशेष के मानसिक अथवा शारीरिक उतार-चढ़ाव का व्यंजन करने के लिये। कबीर का “विरह कमंडल हाथ

लिये, वैरागी दोऊ नैन, मांगें दरस-मधूकर तुमरो, छके रहे दिन-रैन” में किसी निजी अथवा क्षणिक भाव का चित्रण नहीं है, यह तो सारे मानव जाति की आत्मा को तड़प है। यह तो वह ‘मेरे मन अंतर की पीड़ा है’ जो अनादि काल से, युगों-युगांतरों से मानव हृदय में मचल रही है।

प्राचीन भारतीय सभ्यता, विशेषतया अहम् का दमन करने तथा उससे ऊँचा उठने पर जोर देती है—क्या जीवन में, क्या साहित्य में। उससे केवल निजी भावों की अभिव्यक्ति को आशा व्यर्थ है। परन्तु नूतन सभ्यता के प्रसार के साथ साथ, साहित्य में निजो रंग और खिल रहा है, विशेषतया गीतिकाव्य में।

गीतिकाव्य केवल भाषा तथा विन्यास की सादगी एवं समो-चीनता के लिये ही प्रसिद्ध नहीं। कई बार उसमें अनजाने ही कवि का दृष्टिकोण भी आ जाता है। भावों की सचाई तथा तोखापन, भाषा तथा अलंकारों का अनुपात और उनकी फव्वन, ज्यूँ की त्यूँ रहती है। परन्तु इस प्रकार की कविता में ‘विचारों की नवीनता तथा ठोसपन’ को भी कविता के बाकी गुणों के साथ जाँचना, तोलना पड़ता है। भक्तिकाल की कविता में तथा वर्त्तमानकालीन कविता में यह गुण प्रधान है। यहाँ हम गीतिकाव्य के विचार को उसकी कला से पृथक् नहीं कर सकते। सूरदास के भ्रमरगीत, मोरा के के गीतों, कबीर के भजनों अथवा नानक के पदों में हम उनके विचारों को कविता के कलात्मक गठन से पृथक् नहीं कर सकते ॥ वर्त्तमान युग का अधिकतर गीतिकाव्य भी इसी प्रकार का है।

गीतिकाव्य केवल गीत, काफी (जैसे बुल्लेशाह की काफ़ियाँ), पद आदि के रूप में ही नहीं रचा जाता । कोई भी धारणा, विशेष-तया जनप्रिय, लौकिक धारणा, इनके लिये उपयुक्त हो सकती है, जिसे गाने में अधिक चेष्टा अथवा अभ्यास की आवश्यकता न हो, जैसे दोहा, श्लोक, चौपाई आदि । परन्तु कई बार, संतुलन को कविता के भाव के साथ मिलाने के लिये उसमें आवश्यक काट-छाँट कर ली जाती है । शब्दों को लम्बा, छोटा किये बिना, उनके उच्चारण में वैसा रंग और भी तीखा होकर निखर आये, जिस प्रभाव में कविता रंगी गयी है; संतुलन में कमी-बेशी, विशेषतया बेशी कर ली जाती है, इससे पंक्तियाँ और भी रागमयी बन जाती हैं और टेक से गाने में आनन्द प्राप्त होता है । कई संबोधनवादी शब्द जैसे, 'सजनवा', 'बलमाँ', 'प्रियतम मोरे' आदि रस की हिलोर में बड़ी वृद्धि करते हैं और उसे और भी निजी रंग देते हैं । गीतों का तो, रूप की तरह, संतुलन भी आधार है—कजरी, होरी, सुहाग (विवाह के गीत) आदि के संबंध में हम पीछे ही लिख आये हैं । 'बारहमासा' में दिनों, तथा महीनों के बहाने, प्रायः विरह और प्रतीक्षा के भाव चित्रित किये जाते हैं, इस प्रकार ये रूप, अपने भीतरी विचारों द्वारा जाने जाते हैं, न कि किसी विशेष नियमित संतुलन अथवा नियम द्वारा । भक्तिकाल के गीतों, भजनों, पदों के अनंतर, गीत का छायावादी युग आरम्भ हुआ था । इसमें पुराने छंदों के उपयोग को घटाने और नये छंदों के उपयोग की प्रवृत्ति खूब बढ़ी । और ये गीत, संतुलन में नियमबद्ध

होने पर भी, भावों की उड़ान में काफी ऊँचे उठते हैं। छंद में नियमहीन गीत भी लिखे गये हैं, जिनमें निराला का स्थान सर्व-प्रथम है और उर्दू की परिपाटी पर ग़ज़लें भी, परन्तु वे जनप्रिय नहीं हुईं। प्रसाद, रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा, पंत, निराला, बच्चन आदि वर्तमान समय के प्रसिद्ध गीतकार हैं।

अब हम दूसरी प्रकार की कविता को ओर आते हैं, जिसे हम ने बहिर्मुखी अथवा “अनात्मीय” कविता का नाम दिया है। जैसा कि हमने कहा है, इस प्रकार की कविता में कवि अपने निजी भावों, विचारों को प्रकट करने की अपेक्षा अथवा बाह्य जगत् को अपने निज में रंगने की अपेक्षा, प्रत्यक्ष जगत् के चमत्कारों तथा धारणाओं को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि उसका अपना आप, यथासंभव गुप्त रह जाय, चाहे किसी भी कवि के लिये संपूर्णतया ऐसा करना संभव नहीं है।

ऐसी कविता में हम गाथाकाव्य (Ballad) महाकाव्य, किस्से कहानियाँ (Metrical Romance) तथा नाटकीय कविता को गिन सकते हैं। वर्णनात्मक कविता, जिसमें मनुष्य या प्रकृति के सौन्दर्य अथवा उनके भयावह रूप आदि को, अपने निजी भावों के न्यूनतम सम्मिश्रण के साथ चित्रित किया गया हो, भी इसी श्रेणी में सम्मिलित हैं।

गाथा [जिसका मूल संभवतया यूनानी ओड (ode) को समझा जा सकता है] प्रायः वीर योद्धाओं के यशोगान के लिये रची जाती है, अंग्रेजी में तो ओड एक संबोधनवाची गीतिकाव्य

ह, जो किसी भी पदार्थ को संबोधन करके कवि की तत्संबन्धी भावना को प्रकट करता है। मलयसमीर, कोकिल के कलनाद तथा संध्या के वर्णन से लेकर वीरों के अवसान और आत्मान्वेषण तक सारे विषय इसके घेरे में आ जाते हैं। वैसे यह कविता “प्रायः तुकांतक; भाव, मूलविषय तथा लेखशैली में किसी उच्च, सत्य, महान, प्रभाव द्वारा प्रेरित होती है। अंग्रेजी में ओड का स्वरूप किसी सीमा तक जटिल तथा अधिक विस्तारमय होता है, परन्तु हिंदी में गाथाकाव्य का मूलविषय युद्धों, संघर्षों का यथार्थ चित्रण करना रहा है और उनमें विशेष व्यक्तियों का स्तुतिगान किया गया है। संतुलन इसका भिन्न भिन्न रहा है। चंदवरदाई ने पृथ्वीराज रासो में कवित्त, छप्पय, दोहा, तोमर, तोटक आदि का प्रयोग किया है। जगनिक का वीररसपूर्ण आल्हाखंड, केवल एक ही मनुष्य नहीं पढ़ता, उसमें एक मनुष्य नेतृत्व करता है और कुछ बाद में गाते हैं। ऐसे ही यूनानी ओड में भी होता था। ‘स्ट्रोफी’ सुनाने वाला, पढ़ता हुआ, बँधे हुए चक्र से अंदर आ जाता था, तथा ‘एंटी-स्ट्रोफी’ पढ़ता हुआ बाहर आता था। फिर कोरस सब मिल कर पढ़ते थे। चंदवरदाई का पृथ्वीराज रासो, (जो हिंदी की सर्वप्रथम काव्य-रचना मानी जाती है) जगनिक का आल्हाखंड, भूपण का शिवराजभूषण, लाल का छत्रप्रकाश, जोधराज का हम्मोर-रासो आदि सर्वप्रसिद्ध वीरगाथाकाव्य हैं। पृथ्वीराज रासो के छंदों के अतिरिक्त इसमें पाघड़ी, कवित्त आदि भी बरते गये हैं। आधुनिक काल के वीरगाथा काव्य राष्ट्रीयता के भाव से ओत-

प्रोत हैं। इनमें छंदों के प्रयोग में विविधता है। छंद छोटे छोटे हैं। अनेक नये छंद रचे गये हैं और विशेष ध्यान गेयता का रखा गया है।

गाथा प्रायः भाट लोग सारंगी की सहायता से गाकर लोगों को सुनाते थे, और इस प्रकार उनमें वीररस जगाते थे। वीरगाथाओं की प्रथा, भारतीय कविता में प्राचीन काल से चली आ रही है। प्रारंभ में देश की सामाजिक व्यवस्था ही ऐसी थी कि गाथा का जन्म आवश्यक था। कबीलादारी में से निकलती हुई मानव जाति ने अभी अभी सामन्तशाही तथा साम्राज्यों की आवश्यकता अनुभव करनी आरंभ की थी। मनोरथ-प्राप्ति के लिये युद्ध ही उनका एकमात्र साधन था। इस भावना के लिये जन-साधारण को चुनौती देने तथा अपने राजा या सरदार की अजेय वीरता के यशोगान के लिये गाथा की रचना स्वाभाविक थी।

गाथा के वर्णनात्मक कविता होने पर भी, इसका भाव गतिमय है, बहुधा यह किसी एक व्यक्ति के चारों ओर घूमती है, जिसके पौरुषेय गुणों को, भावों की सचाई तथा निजी आत्मीयता के साथ इस प्रकार अंकित करती है, मानो वे उसके अपने ही हों। यह कविता गेय होती है इसलिये इसका रागमयी होना आवश्यक है। परन्तु इसका मूल आशय किसी महान, अतिविशाल, विस्तृत पट पर चित्रित होना चाहिये।

गाथाकाव्य की प्रथा उतनी ही प्राचीन है, जितना मनुष्य आप प्राचीन है, जितना कविता का आरम्भ। कहानियाँ सनने, सुनाने

की इच्छा मनुष्य के हृदय में चिरकाल से है। पद्य में कश्नो सरलतापूर्वक स्मरण कर लो जाती तथा पीढ़ी से पीढ़ी तक संभाली जा सकती है। “कविता में किसी छोटी कहानी का वर्णन ही” गाथाकाव्य है। ऐसी कविता हिन्दी में भी खूब लिखी जा चुकी है, चाहे समय के साथ उसमें बहुत कुछ मिश्रित हो गया प्रतीत होता है और उसके कर्ताओं के नाम भी विलुप्त हो गये हैं। इस कविता में जीवन को प्रारम्भिक अवस्था, संशय, प्रेमलालसा, घृणा, अनुकंपा, वीरता, भ्रमण आदि का वर्णन है।

कौतुक तथा घटनायें भी इसमें बुने जाते हैं। सारी जाति के अहम, भ्रम आदि का भी इसमें पर्याप्त स्थान है। सीधा-सादा वर्णन, तीखी चाल और सजीव किन्तु निरीह सादगी से यह कविता भरी होती है। पदार्थों के विस्तृत वर्णन की लालसा चाहे इसमें खूब होती है, फिर भी विस्तार उतना तथा उसी स्थल पर किया जाता है, जहाँ वह आघात में प्रकट होकर उभर आये। इन कविताओं में बहुधा एक नाटकीय शक्ति तथा संतुलन का सौंदर्य होता है, जो इन्हें साहित्य में आदर दिलाता है। राजा विक्रमादित्य, भर्तृहरि, गोपीचंद, भानमती, मैनावंती, गुरुगोरखनाथ आदि के संबंध में गाथाकाव्यों के चक्र रचे जा चुके हैं और जनप्रिय हो चुके हैं।

हिन्दी में गाथाकाव्य की रचना नगण्य सी हो गयी है। मानव सभ्यता की जटिलता में वृद्धि के साथ कविता भी विचार और शैली, दोनों में ही जटिल होती जा रही है। और हमारे

हृदयों को कोई ऐसी वस्तु प्रेरित नहीं करती जो सीधी सादी हो तथा मूलभूत तत्त्वों, भावों से भरपूर हो ।

महाकाव्य को गाथा का ही विस्तार समझना चाहिये । इसको मूलसामग्री भी किसी योद्धा, विशेषाया ऐतिहासिक अथवा कल्पित व्यक्ति के कार्यकलाप के साथ जुड़ी होती है । आध्यात्मिक चमत्कारों तथा दृश्यों को भी बीच बीच में जड़ दिया जाता है । किसी व्यक्ति के विशेष विश्वासों, वहमों, आदर्शों को इसमें विशेष स्थान प्राप्त है । भाव इसका धार्मिक भी हो सकता है, सांसारिक भी या केवल चामत्कारिक, विस्मयजनक । वर्णन सीधा, सादगीभरा तथा प्राकृतिक भावनाओं का द्योतक होता है, जो प्रत्येक साहित्य के मूल में उसके विशेष अंग हैं ।

तुलसीरामायण का भला किसे पता नहीं ? यह महाकाव्य आज भी भारतवर्ष के ग्राम-ग्राम में पूजा जाता है । तुलसी रामायण के बाद किसी और महाकाव्य को ऐसी जनप्रियता तथा आदर प्राप्त नहीं हुआ । हिन्दी साहित्य में जायसी का पद्मावत एक और प्रसिद्ध महाकाव्य है । वर्तमान काल में गुप्त जी ने 'साकेत' महाकाव्य लिखा है । 'साकेतसंत' तथा 'कृष्णायन' भी इसी श्रेणी के अंतर्गत किये जाते हैं । गुप्त जी के साकेत के साथ दूसरा आधुनिक महाकाव्य प्रसाद जी की 'कामायनी' है । कामायनी १५ खंडों का महाकाव्य है । पंद्रह सर्ग ये हैं :—
१-चिंता, २-आशा, ३-श्रद्धा, ४-काम, ५-वासना, ६-लज्जा, ७-कर्म, ८-ईर्ष्या, ९-इड़ा, १०-स्वप्न, ११-संघर्ष, १२-निर्वेद

१३-दर्शन, १४-रहस्य, १५-आनन्द । 'इस महाकाव्य का अनूठा-पन इसमें भी है कि साकेत, प्रियप्रवास, नूरजहाँ आदि की तुलना में, जिन में पुरानी कथाओं को नवीन रूप दिये गये हैं । कामायनी छायावादी महाकाव्य है । इसमें सुख-दुख और प्रेम-कथा को पगडंडियों से घूमता हुआ कवि राजमार्ग की ओर आया है और उसने यात्रा सफलतापूर्वक समाप्त की है । इसकी कथा के लिये कवि ने ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद् आदि से सामग्री एकत्रित की है । कामायनी की कथा एक प्राचीन ऐतिहासिक प्रयत्न होने के साथ ही मानवता के चिरंतन द्वन्द्व की भी कथा है । इस कथा के मूल में जिस रूपक का आभास हमें मिलता है, उसकी एक श्रेष्ठ दार्शनिक पृष्ठभूमि है । और उसके कारण 'कामायनी' को पूर्ण मानवता के काव्य का गौरव प्राप्त होना चाहिये ।'

वर्णनात्मक कविता का एक और अंग किस्से हैं । हिंदी में इस प्रकार का प्रचुर साहित्य चिरकाल से रचा जा रहा है । इसका विषय प्रायः सांसारिक प्रेम रहा है, जितमें दो प्रेमी सारा जीवन जूझते, प्रहार सहते, ठोकरें खाते रहते हैं; परन्तु समाज की कोई प्रचलित प्रथा अथवा किसी का ईर्ष्यातन्त्र पड्यंत्र, नियति के रूप में उनका मार्ग रोक लेता है और उनका अंत प्रायः दुःखद् होता है ।

हिंदी कविता में वर्णनात्मक कविता के दो भाग किये जा सकते हैं । एक वह जो जनसाधारण में प्रिय है और दूसरा वह जो उच्चशिक्षित वर्ग में प्रचलित है । साथ ही 'पद्मावत' जैसे

काव्यग्रन्थ भी हैं, जिनमें प्रचलित कथाओं के आधार पर किसो विशेष मत का प्रतिपादन किया गया है। वर्णनात्मक कविता की प्रणाली अब तक चली आ रही है और हम इसमें गुप्तजी के खंडकाव्यों, यशोधरा तथा द्वापर को भी सम्मिलित कर सकते हैं। आम लोगों में प्रचलित किस्सों में आल्हा उदल का प्रसिद्ध किस्सा है, जिसे गाथाकाव्य के साथ यहाँ भी गिना जा सकता है।

इनमें केवल करुण संगीत की हूक से भरे विरह तथा प्रेम-वेदना के चित्र ही नहीं खींचे गये, अपितु तात्कालिक समाज की प्रथा-पद्धतियों, प्रकृति की रमणीयता, श्रेणीभेद आदि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

‘नाटकीय कविता’ भी हिन्दी में पर्याप्त लिखी गयी है, इसमें पात्रों के आपसी वार्तालाप को कवि ऐसी कुशलतापूर्वक, एक ही भाव की सूचाई से अंकित करते हैं कि नाटक का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। नाट्य-काव्य में हम गुप्तजी के ‘अनघ’, ‘त्रिपथगा’, ‘चिकटभट्ट’, तथा ‘गुरुकुल’ को दृष्टान्तस्वरूप ले सकते हैं। इनमें से ‘त्रिपथगा’ में तीन नाट्य-काव्य सम्मिलित हैं, अर्थात् वनवैभव, बकसंहार और सैरन्ध्री। इन तीनों की कथा महाभारत से ली गयी है। ‘गुरुकुल’ में सिक्खों के गुरुओं की कथा का वर्णन है। बन्दा बहादुर का चित्रण इसमें खूब सफल रहा है और आघे से अधिक काव्य का संबंध गुरुगोविन्दसिंह से है। प्रसाद जी का प्रेमपथिक भी इसी श्रेणी का उदाहरण है। इसमें दो पड़ोसी मित्रों के पुत्र-पुत्री के परस्पर प्रेम का वर्णन है। परन्तु दोनों का

आपस में विवाह न होने पर, युवक तपस्वी हो जाता है। वहाँ उसका तापसी के रूप में अपनी प्रेमिका से मिलाप आदि भावों का इसमें मार्मिक वर्णन है। इस विषय पर आशा और उत्साह से पूर्ण हिन्दी का यह पहला काव्य है।

नाटकीय कविता के कई रूप हैं—इनमें एक रूप नाटकीय गीतों का है—जिसमें भाव गीतिकाव्य की भाँति निजी होता है, परन्तु यह भाव कवि के अपने बारे में नहीं होता, अपितु किसी कारण के बारे में होता है, जिसके अनुभवों तथा जिस की प्रवृत्तियों में कवि उतर जाता है और जिसके विचारों तथा अनुभवों को वह रूपमान करता है। राधा का श्याम के विरह में, सीता का राम की याद में, पत्नी की विरहवेदना पति के लिये—इन सबमें नाटकीय गीतों की रचना का अधिक श्रेय वैष्णव कवियों को है। जैसे हमने ऊपर लिखा है, वर्तमान काल में कई रचनायें इस माध्यम में की गई हैं। प्राचीन समय की रचनाओं में सूरदास का भ्रमरगीत, जहाँ तक उसकी कथा का संबंध है, इसके अंतर्गत किया जा सकता है। दूसरा रूप चिट्ठीपत्र द्वारा घटनाओं तथा आदर्शों का चित्रण करना है। तीसरा रूप नाटकीय स्वगत कथनों का है (Dramatic Monologues; Soliloquy) नाटकीय गीतों से इन्हें पृथक् करना सहल नहीं है, क्योंकि इनमें भी प्रायः कोई कहानी आ घुसती है, इसलिये नाटकीय वर्णनात्मक कविता से यह बहुत मिलती जुलती है। तब भी यह कविता नाटकीय गीत से उतनी ही पृथक् है, जितना नाटकीय कविता का

विस्तीर्ण, जटिल स्वरूप सरल, सामान्य गीतिकाव्य से पृथक् होता है। और क्योंकि कहानी का उपयोग इसमें केवल बहाने के लिये, भ्रम के लिये किया जाता है, और इसका मनोरथ हृदय की दुविधा, शंका-संदेह, प्रवृत्तियों तथा युक्तियों को खोलना होता है, इसलिये यह केवल वर्णनात्मक ही नहीं होती। इसी लिये ही यह रूप अधिक प्रतिभाशाली, विश्लेषणात्मक, विस्तृत तथा युक्तिपूर्ण होता है।

इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि नाटकीय कविता चाहे दिखने में अधिक बहिर्मुखी, अनात्मीय प्रतीत होती है—जिसमें कवि ने अपना आप ही छिपा कर रखा होता है, फिर भी इसका ध्येय किसी कल्पित व्यक्ति के आचरण, उसके मानसिक संघर्ष, उसकी आवश्यकताओं आदि का वर्णन होता है। और कवि प्रायः इस परदे के बहाने अपने निजी दृष्टिकोण का वर्णन करता है। इसके लिये वह दो साधनों का उपयोग करता है। या तो कवि, अपना वक्तव्य पात्र के मुख से कह देता है अथवा अपने वक्तव्य के ठीक प्रतिकूल कहलवाता है, इस प्रकार कि पाठक ठीक आशय समझ जाता है। अंग्रेजी में ब्राउनिंग ने इस प्रकार की कविता बहुत लिखी है। रहस्यवादी कविता में यह प्रवृत्ति बहुत स्थानों पर मिलती है। “घूँघट का पट खोल रे, तोहे पीव मिलेंगे” अथवा “कौन चुनरिया ओढ़ूँ आलि, जाना है मोहे पिय की नगरिया” आदि कबीर के पद इस प्रकार की रचनाओं के दृष्टांत हैं।

६

कविता का यह विभाजन, उसके स्वरूप के अनुसार किया गया है। यह विभाजन छंद अथवा भावों के अनुसार भी किया जा सकता है। हिंदी-कविता में छंद घरेलू भी हैं, जैसे ग्रामगीतों के अनेक संतुलन, कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई आदि। इनके नियम किसी छंद-ग्रंथ में देखे जा सकते हैं। हिंदी की अधिक कविता छंद-निर्णय के नियत नियमों पर पूरी उतरती है। उसकी महानता इसी में भी है कि भीतरी भाव के साथ मेल रखती हुई भी भाव के उतार चढ़ाव के साथ संतुलन को नहीं बदलती। वर्तमान युग में जो प्रयोग 'युक्तछंद' कविता के किये गये हैं, जिनमें निराला सबसे प्रधान है, उनमें संतुलन को भाव के उतार चढ़ाव के साथ बदल दिया गया है। परन्तु इस प्रकार की कविता अधिक जनप्रियता प्राप्त नहीं कर सकी, क्योंकि उसमें गेयता का अभाव है। वैसे कविता की उत्तमता प्रचलित संतुलनों के निभाने पर निर्भर नहीं है। यह उत्तमता भावों की सचाई तथा भावों के अनुकूल लयपूर्ण रचना करने, नूतनतम उपायों, शब्दों की ध्वन्यात्मकता आदि की सहायता द्वारा समीचीन आवेष्टन उत्पन्न करने पर निर्भर है। इसलिये केवल स्वरूप के अनुसार कविता का विभाजन हमें हिंदी कविता (तथा संसार की और बहुत सी आदरणीय कविता) का संपूर्ण क्षेत्र तथा विस्तार समझा नहीं सकता। उसके लिये हमें उसके अंतर्गत रस, भाव, अलंकार,

शब्दों के चुनाव, लय आदि को परखना पड़ेगा, जो प्रत्येक रचना के इर्द-गिर्द एक विशेष प्रकार का वातावरण खड़ा कर देते हैं ।

जैसे कि हमने ऊपर देखा है, प्रत्येक साहित्यिक रचना का मूलमनोरथ हमारे हृदयों में एक विशेष प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करना होता है । अथवा दूसरे अर्थों में, प्रत्येक कलात्मक रचना हमारे हृदय में एक भावना-विशेष स्पन्दित करती है । ऐसे क्यों होता है ? इसका निर्णय हम पहले कर चुके हैं । कलाकार कैसे यह सब कुछ करता है, इसका विस्तार पहले किया जा चुका है और कुछ आगे किया जायगा । यहाँ केवल हमें यही कहना है कि प्रत्येक रचना हमारे हृदय पर एक, केवल एक ही प्रकार का प्रभाव चित्रित करती है । यदि यह प्रभाव वासनाजनक, अनियमित, नवीन, आदर्शवादी, उत्तेजनापूर्ण, दर्शनीय, आश्चर्यमय, स्वच्छंदता-पूर्ण, अनुभवजन्य, अतिशयोक्तिपूर्ण, अलौकिक तथा चंचलता-युक्त होगा, तो पाश्चात्य भाषा में इस प्रकार की रचना को रोमांचिक रचना कहा जावेगा । यदि यह प्रभाव वस्तुस्थिति को उसको यथार्थ रूप में, कुरूप, भयावह, कहीं कहीं आह्लाद-जनक और ज्यूँ का त्यूँ चित्रित करता है, तो वह रचना यथार्थवादी रचना कहलायेगी । यदि वास्तविकता के विस्तृत वर्णन की अपेक्षा उसे मूल आशय के साथ संगत इंगितों, प्रतीकों आदि द्वारा समझाया जाय, तो उस रचना को प्रभाववादी रचना कहा जावेगा । प्रचलित, उत्तम तथा प्राचीन रचना को, विचारों, शब्दों के चुनाव, संतुलन, सब में ही अधिकृत रूप से स्वीकार करनेवाली

कविता, जो नियमबद्ध, गंभीर, अनुपातशील हो, उसे क्लासिकल (पुरातनपूजक) कविता का नाम दिया जाता है । आध्यात्मिक, प्रतीकवादी रहस्यपूर्ण दैवी, भय, अथवा प्रेम जगाने वाली रचना रहस्यवादी रचना कहलाती है ।

परन्तु प्राचीन भारतीय विद्वान रस के नौ भेद गिनते हैं । इन का संबंध कविता के रूप की अपेक्षा उसके वातावरण से तथा उसके भावों से होता है । नौ रस निम्नलिखित हैं :—

१) शृंगार—इसमें साँसारिक रूपरेखा का उत्तेजनापूर्ण, वासनाजनक, प्रेमपूर्ण चित्रण होता है ।

२) हास्य—इसमें हास्य, अतिशयोक्ति, वाक्यक्षेप, अनुकृति आदि का उपयोग सम्मिलित है ।

३) करुण—शोक तथा उदासी भरी, विरह तथा मृत्यु के बारे में और प्रीति के अभाव वाली, वैराग्य तथा निराशा का आवेष्टन बाँधने वाली रचना इसमें सम्मिलित है ।

४) रौद्र—क्रोध उपजाने वाली कविता रौद्ररसात्मक होती है ।

५) वीर—वीररसात्मक रचना युद्ध में वीरता की प्रेरणा देती है, लहू को खौलाती है, पौरुष को उभारती है, कड़क और गूँज उत्पन्न करती है ।

६) भयानक—डर तथा सहम उत्पन्न करने वाली कविता इस के अंतर्गत है ।

७) वीभत्स—निंदा के लिये कविता में इसका प्रयोग होता है ।

८) अद्भुत—आश्चर्य, विस्मय, हैरानी की प्रवृत्ति इस रस

वाली कविता से होती है ।

६) शांत—मिलाप, प्रेम का कृतज्ञताभरा, विकसित वर्णन इस रस की कविता में होता है ।

इसके सिवाय विभाजन विषयानुसार भी हो सकता है । जैसे प्रेम की कविता, प्रकृति के बारे में कविता, देशप्रेम की कविता, धार्मिक कविता ।

हिन्दी कविता में इनमें से सब के उदाहरण मिलते हैं । परन्तु कविता का विचार चाहे रूप-अनुसार किया जाय, चाहे विषयानुसार, भावना के आधार पर या वातावरण को मुख्य रख कर, एक बात जो कविता के संबंध में कभी भुलाई नहीं जा सकती, वह यह है कि कविता शब्दांतक कला के रूपों से कहीं अधिक शब्दों के साध संबंधित है तथा इनके अतिसूक्ष्म, व्यंजनात्मक उपयोग से ही किसी कवि की कला की उत्तमता अथवा उसके घटियापन को परखा जा सकता है । विषय तो प्रत्येक अंग का रचनात्मक, नेतृत्व-पूर्ण, जीवन दान करने वाला, उत्साहित करने वाला, चुनौती देने वाला होना चाहिये; वातावरण भी उसका विश्लेषणात्मक, केवल एक ही प्रभाव को अंकित करने वाला, रचनात्मक, अदृश्यप्रायः परन्तु अनुभव किया जाने योग्य होना चाहिये । भावहीन साहित्य, चाहे वह गद्य हो या पद्य, नाटक हो या उपन्यास, जो हृदय के स्तरों को भंकृत नहीं करता, भंभोड़ता नहीं, जगाता नहीं, हृदय में कोई वेग, तरंग, लहर नहीं छोड़ देता, वह साहित्य नहीं कइला सकता । और यह सब कुछ शब्दों के आधार पर ही किया जाता

है । परन्तु कविता एक ऐसी कला है, जो शब्दों के उपयोग में सब से अधिक संयम बरतती हुई भी उन्हें सबसे अधिक अनूठे अर्थ प्रदान करती है । शब्द यहाँ केवल वही अर्थ नहीं देते, जो वह साधारण भाषा में देते हैं, वे यहाँ संपूर्णतया प्रतीक बन जाते हैं; प्रतीक, इंगित जैसे, व्यंजनात्मक, कुछ गहरे, विस्मयपूर्ण, भीतरी अर्थों से भरे-पूरे, भावों से ओत-प्रोत, संगीतमय तथा एक विशेष अनुपात में जड़े हुए (जो बदला नहीं जा सकता) । इतना ही नहीं अपितु कविता में इनका प्रयोग एक ऐसे जटिल तथा परस्परविरोधी तरीके से किया जाता है, कि शब्दों के कुछ अर्थ हमें प्रेरित करते, भंभोड़ते हैं, उनके दूसरे अर्थों को न केवल दुहराने, गाढ़ा करने के लिये, या संयमित करने के लिये, अपितु विस्तृत, विकसित करने या विस्मृति के गर्भ में से निकालने के लिये, उत्साहित करने अथवा उत्साह का प्रबल वेग शान्त करने के लिये भी । गद्य में शब्दों की भिन्न भिन्न विशेषताएँ एक दूसरे को केवल गाढ़ा करती हैं, भावार्थ को उजागर करने के लिये, जैसे हाथों के संकेत, वार्त्तालाप को । परन्तु कविता में ये इससे कहीं भिन्न काम देते हैं ।

वर्त्तमान कवि साधारणतया अतीव सरल भाषा का उपयोग करते हैं, तथा अपने अलंकार, प्राचीन इतिहास अथवा पुराणों को बजाय हमारे वर्त्तमान सामाजिक जीवन या प्रकृति से उधार लेते हैं । ये यूँ तो से पढ़ने में बड़े सरल प्रतीत होते हैं, परन्तु इनकी कला की महानता, अथवा विषय का गाढ़ापन, वाक्चरण तथा लय तभी ढूँढे जा सकते हैं, यदि उनके शब्दों

के भीतरी दूसरे अर्थों पर विचार किया जाय । तब ही यह पता चलता है कि कवि ने किस कुशलता द्वारा कलाहीनता का प्रभाव उपन्न किया है । शब्द विषय अनुसार, कड़े, रूखे, या मधुर, दीर्घ, हास्य के संकेत करते या जगाते, भयभीत करते, सुलाते या जगाते हैं । और प्रत्येक शब्द संपूर्ण कविता का एक अभिन्न अंग है, जो संपूर्ण प्रभाव तथा वातावरण को, लय तथा विषय को, रूप तथा रस को उजागर करने के लिये खड़ा होता है । भाव यह है कि कविता में शब्द केवल उनके प्रकट अर्थों के लिये ही प्रयुक्त नहीं किये जाते, न ही केवल उनकी लय के लिये अथवा विषय की अनुकूलता के कारण । बल्कि इस सबके लिये भी और बहुत और कुछ के लिये भी । जितना अनूठा, अनोखा, अन्तर्विरोधपूर्ण अर्थों में अर्थयुक्त, अति घना, व्यंजनात्मक प्रयोग शब्दों का कविता में छिपाया होता है, उतना साहित्य के किसी और अंग में नहीं होता । इसी प्रकार अलंकारों में भी । यह तो कविता का घटिया से घटिया पाठक भी स्वीकार करता है कि अलंकार कविता का भूषण होते हैं । पर जिन अलंकारों के लक्षण हम अलंकारशास्त्र की किसी पुस्तक में पढ़ते हैं (एक ही अक्षर का बार बार प्रयोग; आवृत्ति; किसी विचार की किसी और घटना, प्राकृतिक कुशलता अथवा सामाजिक प्रवृत्ति के साथ ऐसी तुलना कि विचार हृदय पर और भी गहरा अंकित हो जाय, दो विरोधी परिस्थितियों, मूल्यों, को जोड़कर उनकी असंगति द्वारा अपने पक्ष की पुष्टि करना, तिरस्कार करना

अथवा हास्य की सृष्टि; अतिशयोक्ति, भाव को चमकाने के लिये वहाना बना कर निन्दा करनी; युक्ति या तर्क, किसी विचार की पुष्टि के लिये अकारण को कारण मान लेना, संकेतों, प्रतीकों में बात कह देना आदि) तथा जिन पर प्राचीन कविता के गुण दोषों को प्रायः परखा जाता था, वे अब कविता में उसी ढंग से तथा उसी प्रयोजन के लिये प्रयुक्त नहीं किये जाते । साथ ही, आज किसी कविता की प्रशंसा केवल उसके अलंकारों के कारण ही नहीं की जाती, विशेषतया तब, जब कवि का मनोरथ अलंकारों, को किसी भाव के चमकाने, अथवा मूल आशय के उपयुक्त आवेष्टन उत्पन्न करने में सहायक बनाने के स्थान पर केवल उनकी नूतनता, अद्भुतता, अथवा रमणीयता के लिये वहन कर अपनी व्यंजनाशक्ति द्वारा पाठकों को चकित करना हो । अलंकार एक आवश्यक कलात्मक आभूषण हैं । पर वहीं तक, जहाँ तक कि वे कविता के मूल आशय के विकास, विस्तार में सहायक हों । और यदि वे ऐसे हों (जैसे कि हमने पड़ले बताया है) तो एक तो वे विज्ञान के किसी तथ्य को न झुठलायें तथा दूसरे उनका आनंद प्राप्त करने के लिये अतीव व्यंजनात्मक, सूक्ष्मदृष्टि अपेक्षित हो । स्वतःस्पष्ट, साधारण अनुभव की विषय, अत्यन्त से ही प्रत्यक्ष, सीधी युक्तियाँ, तुलनाएँ आदि कविता की कला की प्रगति नहीं करती; उलट वे तुलनाएँ उसकी प्रगति में सहायक होती हैं, जिन में ताजगी हो, जो अनूठी हों, जिनमें परछाँहियों से मिली चमक हो, जो गहरी, सूक्ष्म, कोमल,

“छूर्डिमुई जैसी” हों। हाँ, व्यंगात्मक अथवा सामाजिक कविता के लिये अधिक स्पष्ट, जीवन के प्रत्यक्ष, तीक्ष्ण प्रहार को भी स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु वे भी ऐसे कलापूर्ण ढंग से प्रयुक्त होने चाहियें कि उनका भाव नये ही रूप में स्पष्ट हो, और वे कोई नवीन आवेष्टन बाँधने में सहायक हों।

प्रायः वे अलंकार ही भले प्रतीत होते हैं, जो कविता पर अनावश्यक भार बनकर न पड़े हों। अपितु उसके रक्त में रचे हों; जो प्रभावपूर्ण हों, जो हृदयपट पर पदार्थों के यथारूप चित्र लटका दें, न केवल आकार-प्रकार में, अपितु हर ओर से, और ठीक अंदर से भी, मानो पदार्थों का अंतःकरण ही हमारे सामने खुल जाय। शब्द बोलें, कुछ सुभायें, चलायें, कुछ हिलायें, झंझोड़ें, उनमें से मूल आशय वहता सा प्रतीत हो; शब्द, भार, आकृति, रंग, गंध, आकर्षण, गति, गूढ़ रहस्य सभी का चित्रण, अलंकारमय हो, और प्रत्येक रसज्ञ पाठक, एक वस्तु के सम्बंध में, कवि की कला की सहायता से वह सब कुछ जान जाय, जो वह किसी अन्य कला अथवा विधि से नहीं जान सकता। इस प्रकार अलंकार हमारे अंदर वे भावनायें स्पंदित करने में सहायक होते हैं, जो विचार को एक नयी शक्ति देते हुवे, हमारे हृदय पर एक अमर प्रभाव अंकित कर जाते हैं तथा हम उन तथ्यों को, जिन्हें अनावृत नेत्र नहीं देख सकते, भावों की एक बाढ़ में बहकर पहचान लेते हैं और उनके साथ साझीदार बन बैठते हैं। और क्या यह सच नहीं कि मानव-हृदय कल्पित सत्यों के सहारे ही पदार्थों की अंतरात्मा को

जानता है, न कि केवल उनके अंगविश्लेषण, प्रकट गुणों अथवा लक्षणों, चिह्नों द्वारा । पदार्थों का दर्शन, प्रयोग, ज्ञान और है; उन की आत्मा में निमग्न होना, उनकी भीतरी खिड़की खोल कर, उन को अनावृत दशा में देखना, उनकी उपयोगी, यथार्थवादी, चरम-सीमा से आगे जाकर उनकी जीवन-ज्योति को परखना बिल्कुल और बात है । यह केवल कविता की कला कर सकती है । और कवि जितना महान होगा, उतना ही जीवन को बहुविध सामग्री में से वह टूट २ कर अपने विषय का समाधान करेगा, और उतनी ही अधिक हमें उसमें रस-प्राप्ति होगी ।



ऊपर हमने कविता को भावों तथा कल्पनाशक्ति की संतुलन-बद्ध अभिव्यक्ति का नाम दिया है । यह लक्षण इतना सामान्य है कि इससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है । यह ठीक है कि प्रत्येक कलात्मक रचना को हमारे भाव जगाने चाहियें, हमें भ्रुकृत, स्पंदित, प्रेरित करना चाहिये, विशेषतया कविता को, जो साधारणतया विशुद्ध भावों की भाषा बोलती है तथा मस्तिष्क को हृदय की भाषा द्वारा चित्रित करती है । यह भी साधारण अनुभव में आता है कि जो कलात्मक रचना हमारे हृदय को हिला दे, जिस किसी कृति का पाठ हमारे नयनों से मन्द मन्द जलधार प्रवाहित कर दे, हमारी रग-रग सिहर उठे, हम आनन्दमग्न हो जायें, हमारा सिर मस्ती में झूमने लगे, विकास की कोई लहर छिड़ जाय

या हम वैसे ही उत्तेजित हो जायें और स्वतःस्फूर्त बोल उठें, “अहा कितनी सुन्दर ! कितनी अच्छी !” तब हमें रचना बहुत प्रभावित करती है तथा आवश्यकता से अधिक अपना मूल्यांकन कराती है । इसके प्रतिकूल, कई प्रमाताओं तथा रसज्ञ पाठकों का मत है कि जो रचना, हृदय को ऐसा रसाप्लावित करे तथा भावों को बाढ़ सी ले आये, वह महान कृति नहीं हो सकती, क्योंकि उसका लक्ष्य केवल ऊपरी स्तर पर, जल की ऊपरी लहरों में से बुदबुद फोड़ने जैसा अथवा साबुन की घिसाई में से झाग निकालने जैसा है । पक्षी की तेज़ फड़फड़ाहट उसकी उड़ान के पहले पड़ाव की निशानी है, ऊपरी आकाश में प्रत्येक नीरोग पक्षी एक स्वाभाविकता, एक निश्चलता, एक अद्भुत समानरसता में तैरता है । किसी सीमा तक यह तर्क बिल्कुल संगत है ।

कला का उद्देश्य हमारे अंदर ऐसे तीक्ष्ण भाव-वेग उत्पन्न करना नहीं, जो हमारी चिंतनशक्ति तथा कल्पनाशक्ति को ही साथ में बहा ले जायें । प्रत्येक कलात्मक रचना भाव उत्पन्न करती है (कविता सर्वाधिक), परन्तु केवल अपने आप में डुबोने के लिये नहीं, अपितु तर्क तथा कल्पना की उड़ान को सहायता देने के लिये, हमारे अनुभव को उकसाने, गरमाने, अधिक रसाप्लावित करने के लिये । भाव जगाये जाते हैं, किसी उद्देश्य की ओर पूर्ण उत्साह तथा ओज से प्रेरित करने के लिये । और यह काम प्रत्येक कलात्मक रचना के सुचारु रूप पर निर्भर है कि वह भावों को उभारती हुई भी, उस पर ऐसा नियंत्रण रखे कि “मानवीय आदर्शों का नेतृत्व”

जो उसका मूल ध्येय है, आँखों से कभी ओभल न होने पावे । इसलिये कोई महान कृति, केवल भावात्मक रचना नहीं हो सकती, न ही वह आत्मकलात्मक, नैसर्गिक, अंतःप्रेरणा की उपज होती है, अपितु पूर्णतया सचेतन तथा सूक्ष्मभरे जीवन का प्रतिबिंब होती है । इसलिये जब कभी भी कवि केवल हमारी भावनाओं के जीवन के साथ खेलने लग जाता है, हमें हँसाता, रुलाता, हिलाता हुआ हृदय-हारी रचना करता है, तो हमें संदेह होने लग जाता है कि उसकी रचना, निर्जीव न होने पर भी, सजीव, शक्तिशाली तथा प्रवाहमयी होने पर भी, आवेगमयी कृति होने के कारण कलात्मक नहीं । यदि हम केवल किसी विरहगीत में से वियोगरस को ग्रहण करते हैं, उसे पढ़, सुन कर आहें भरते, रोते हैं अथवा विरहियों के मिलन में से शांतरस ढूँढते, सुखित होते हैं और हमारे नयनों से जलधारा प्रवाहित हो जाती है, तो हमें जान लेना चाहिये कि हम कोई अमर कलात्मक रचना नहीं पढ़ रहे । जासूसी उपन्यास, अर्थात् नाटकीय (melodramatic) अथवा भावात्मक कविता हमें सामयिक रसदान तो करती है, परन्तु अनन्त शक्ति अथवा संदेश नहीं । इसलिये ये कला के घटिया अंग हैं ।

उत्तम, कलात्मक रचना, इसके प्रतिकूल हमें निर्बल नहीं करती, हमारे अंदर पराजयवादी, ध्वंसात्मक, अराजकवादी, पलायनवादी, अनिश्चित, तीव्र, आदर्शविहीन भाव नहीं जगाती, बल्कि अपनी कला की कृपा से भावों की उड़ान तथा तर्क के संयम के बीच में, ऐसा संतुलन उत्पन्न करती है कि मूल-आशय, अलंकार, रूप तथा

अनुभव, सबका एक 'अनोखा', अप्रतीत, तालमेल उत्पन्न हो जाता है। और आगे के लिये ये सब किसी एक महान, नेतृत्व-पूर्ण आदर्श के चारों ओर घूमते हैं। और ऐसी सहज-स्वाभाविकता के साथ ये सारे अंग एक दूसरे में घुले-मिले होते हैं कि 'प्रयत्न' का अनुमान कहीं नहीं होता। 'संपूर्णता' का, 'सर्वांगीण एकता' का प्रभाव हृदय पर पड़ता है; पृथक् जोड़ों, अंगों का नहीं, क्योंकि कला कोई निरर्थक, वहमभरी कृति नहीं। न ही यह कोई क्षणिक मनोरंजन है। इसका उद्देश्य हमें सुलाना, शक्तिहीन बनाना, अथवा भ्रमजाल या रोमांस की अलभ्य, अदृश्य रमणीयता द्वारा लुब्ध करना नहीं, अपितु जीवित करना, प्रसुप्त जीवन लहरों को भंग करके जगाना तथा शरीर की संपूर्ण शक्तियों को किसी महान आदर्श के पीछे सर्वतोभावेन चलाना है। यह भावों की सहायता के बिना संभव नहीं, परन्तु भाव केवल कार्य का सहायक ही हो सकता है, उसका उद्देश्य नहीं।

अलंकार भी इसी प्रकार हमारे लिये उद्देश्य के चित्र को अधिक तीक्ष्ण उभारते, उसके रंगों को और गाढ़ा करते, प्रबल करते हैं; क्योंकि कविता साधारण व्यंजना के प्रचलित, परंपरागत विचारों तथा अनुभवों के प्रतिकूल नये लक्ष्यों को (बहुधा प्रतीकवाद द्वारा) अभिरूप करती है, जिसका पूरा अनुभव अलंकारों की सहायता के बिना नहीं किया जा सकता।

भाव भी कविता इसी लिये हममें जगाती है कि हम कलात्मक कृति को अर्धसप्त, अनबहित से, न पढ़ जायें या सुन लें, उसके

मूल आशय का ध्यान किये बिना, उसके शब्दराग के गुणों को समझे बिना, और उसके क्रम तथा उसकी बनावट, उसके सौन्दर्य तथा कला को सम्यक् समीक्षा किये बिना । यदि भाव यह सब कुछ संपन्न करता है, तो उसका उपयोग उचित हुआ है, यदि ऐसा नहीं तो उसका उपयोग अपरिपक्व, विचारहीन तथा निरर्थक है ।

और ऐसा राग भी नाशात्मक है, जिसके सुनने से कोई भाव अंदर थिरकता है, परन्तु उसे सार्थक बनानेवाला विचार उसमें नहीं गाया जाता । उन गीतिमयी रचनाओं के सिवाय, जिन्हें आवश्यक तौर पर किसी यंत्र की सहायता से गाया जाता है, शब्दों को केवल रागात्मक रंग देना विचार का गला घोट सकता है । क्योंकि यदि किसी रचना की लय हमें मानसिक तौर पर केवल थपथपाने, सुलाने के लिये प्रेरित करेगी तो हम यथार्थ तथा स्पष्ट-रूपेण सोचने अथवा किसी आदर्श के लिये प्रेरित होने से वंचित रह जावेंगे, जो साहित्य को अमर जीवन प्रदान करता है । अब कविता प्राचीन समय की तरह, केवल विरहीजनों की रोमांचक आत्मवेदना अथवा मिलन की प्रकाश्य, आवेगपूर्ण, लयमयी रचना नहीं समझी जाती, अपितु भाव, लय, प्रतीकवादी टीका-टिप्पणी आदि की सहायता द्वारा इसका उद्देश्य हमारे अंदर एक शक्ति उत्पन्न करना है, हमारे हृदय में किसी स्वप्न की अनुभूति को, उसके लिये जूझने की ऐसी शक्ति, जिसके बिना जीवन अधूरा है, अपूर्ण है । इसलिये जहाँ शब्द-लय, आशयानुसार समीचीन, तथा विशिष्ट आवेष्टन उत्पन्न करनेवाली प्रत्येक काव्य-रचना के लिये

सापेक्ष है और हमें कविता के बाकी अंगों को गुणग्राहिता में सहायता देती है, वहाँ इसे कविता के विचारों तथा अलंकारों पर (जो उस विचार का विकास करते हैं) इस तरह नहीं छा जाना चाहिये कि कविता से सिवाय सुर, ताल के कुछ भी न भरे, और कविता केवल गुंज को प्रतिध्वनिमात्र रह जाय । शब्द, अवसर के अनुकूल उपयुक्त हों, वे आकार, गतिविधि, ध्वनि, रंग, मानसिक भुकाव तथा उत्तेजना आदि के स्रोत हों; वे एक विशिष्ट आशय को प्रकाशित करनेवाले वातावरण का विकास करें, परन्तु इसीलिये वे रागमय हों या न हों । कई बार तीखी, कटाक्षपूर्ण, शक्तिशाली रेतीली, शुष्क, क्षणिक रूखी-सूखी, कड़ी भाषा विचारों को अधिक चमकाती है, उन शब्दों को अपेक्षा, जो संगीतमय हों और जिनमें केवल रमणीयता का उत्पादक, लालित्य खूब हो । कई बार शब्द केवल हमें पैर देकर गिराने का काम देते हैं, पद-पद पर हमारी सूझ को धक्का लगता है और हम चौंक कर उस विचार को अनुभव करते हैं, जिसे स्पष्ट करना कवि का मंतव्य है, कई बार कवि शब्दों का भद्दा उजड़ु रूप बरतता है, असंगत पर तर्क का प्रहार करने के लिये । इसलिये प्रत्येक अवसर पर शब्दों का लययुक्त या सुन्दर होना इतना आवश्यक नहीं, जितनी उनकी व्यंजनात्मकता या समन्वय मूल आशय, भाव, अलंकारादि के साथ ।

इस प्रकार राग तथा संतुलन भी प्रत्येक कविता का पृथक् पृथक् होना चाहिये, विषय के साथ उसी तरह मेल खाता हुआ, जैसे नाचने, उड़ने, दौड़ने की चाल पृथक् पृथक् होती है, जैसे बगले

तथा कौए की उड़ान में अंतर होता है । पहले की उड़ान मंथरगति भारी तथा ध्वनियुक्त होती है और दूसरे की बाण की तरह सीधी, एकरूप । इसी प्रकार ही राग प्रत्येक कविता में उसके विचार तथा आवेग के यथार्थ अभिव्यंजन का एक कलात्मक साधन है । राग कैसे उत्पन्न होता है ? एक क्रम-विशेष में नियमित शब्दों के जड़ने से । राग की उत्पत्ति क्यों की जाती है ? ताकि हम, उसी क्रम में, अपने हृदय के अंदर उस विचार-भाव को, स्तर पर स्तर, सीढ़ी पर सीढ़ी, जोड़ते जायें और इस प्रकार एक संपूर्ण चित्र हमारे हृदय पर सदा के लिये अंकित हो जाय । सभी शब्द हम एक ही बार तो पढ़ ही नहीं लेते, उन्हें किसी क्रम में, एक नियम के अनुसार हम पढ़ते हैं । कवि भी इसी प्रकार धीरे धीरे विचार को खोलता, प्रकट करता है, तथा शब्दों के प्रवाह को इस प्रकार चलाता है कि विचार के उतार-चढ़ाव के साथ उनमें भी उपयुक्त पलटे ले आये जाते हैं । विचार जितना गहरा, दार्शनिक होगा, उसको गति उतनी ही भारी, बैठी हुई, मध्यम होगी । साधारण विचार, अलंकार आदि तीक्ष्ण गति वाली चाल में बाँधे तो जा सकते हैं । लय का किसी कविता में एक-सा होना भी अब गुण नहीं समझा जाता, इससे अब पाठक अधोर हो जाते हैं ।

इसी लिये नवीन कवियों ने, प्राचीन, संख्या के संतुलनों में अंदोबद्ध रचना करनी प्रायः बंद कर दी है । प्रत्येक विचार के लिये उसकी अपनी चाल है तथा विचार के प्रत्येक मोड़ पर संतुलन में भी परिवर्तन कर दिया जाता है । यदि किसी कविता के विचार-

अलंकार इतने साधारण, पतले अथवा हल्के हों कि पाठक का हृदय उन्हें सोये हुए ही पढ़ कर, ग्रहण करता जाय, तो ऐसी रचना में लय की कोई विशेषता नहीं होगी । परन्तु यदि विचार तथा अलंकार ध्यान आकर्षित करने वाले, चिंतनसापेक्ष, महत्त्वपूर्ण, अनूठे हों, तो लय की गति धीमी, निर्मुक्त, तथा विशेष होगी और ऐसी कविता केवल छंदनिर्णय अथवा मात्रानिर्णय के प्रचलित सिद्धान्तों को एक ओर करती हुई, एक अनूठे संयम तथा अनुपात की व्यंजना द्वारा, पदार्थों के भार, फैलाव, रंग, आकृति तथा गति को हमारे हृदयों पर अंकित करेगी ।

जैसे कवि अलंकारों में करता है, वैसे ही राग के बारे में भी, वह शब्दों को साधारण शक्ति तथा भार से, जो बोलचाल में प्रकट होते हैं, शब्दों को पृथक् करके, उनसे अधिक गहरे, सूक्ष्म विचार तथा चित्र अंकित करवाता है । मात्रा का आधिक्य अथवा उसकी न्यूनता, इस प्रकार एक अतीव निरर्थक तथा अनावश्यक मानदंड है कविता की लय को परखने का—जिसे भारतीय साहित्य में पद्य को गद्य से पृथक् करने का—एकमात्र साधन समझा गया है । इसी प्रकार छंदनिर्णय भी कहीं कहीं पर ही कविता की लय को समीचीन बनाता है (जिसके आधार पर अंग्रेजी कविता के संतुलन की परख होती है) ; बहुत बार वह निपट रूखा, एक सा, परंपरागत, सीमित आवेष्टन उत्पन्न करके कविता की आत्मा को नष्ट कर देता है ; इसलिये अंग्रेजी के महान् कवि छंद-निर्णय की अपेक्षा शब्दोच्चारण के समय छंदनिर्णय तथा चाल दोनों के संमिश्रण

द्वारा लय उत्पन्न करते हैं। इसलिये शब्दों को व्यंजनात्मकता अधिक आवश्यक है, उनको रागात्मकता की अपेक्षा। तथा यदि दोनों गुण इकट्ठे हो जायें, तो कविता का प्रभाव और भी अधिक तीव्र हो जाता है।

कविता का संतुलन अथवा उसका भीतरी राग हमारे भावों को अधिक चमकाता है तथा कविता के विचार को जहाँ रसाप्लावित बना कर प्रस्तुत करता है, वहाँ उसे एक प्रवृत्ति तथा क्रम भी प्रदान करता है। यही बहुत सीमा तक कविता को गद्य से पृथक् करता है, परन्तु इसका निर्णय, क्या कवि को, क्या पाठक को प्राचीन प्रथानुसार, मात्रा की गिनती अथवा छन्दनिर्णय द्वारा नहीं, अपितु अंतरात्मिकता से करना चाहिये।

इसलिये कविता चाहे भावों को उत्पन्न करती है, परन्तु वह केवल इसी उद्देश्य के लिये नहीं लिखी जाती। वह लयमयी रचना रचती है (नियमित अथवा अनियमित) परन्तु केवल लय में डुबोने के लिये नहीं। वह अलंकारों का उपयोग करती है, परन्तु बुद्धि का चमत्कार प्रदर्शन करने के लिये नहीं, और न ही वह किसी विशेष रूप का उपयोग इस लिये करती है कि इसी से ही उसकी कला को विशेषता तथा व्यवस्था, संपूर्णता अथवा एकता प्राप्त होती है। वही कविता उत्तम है और सत्कारयोग्य है, जो इन सबके स्वाभाविक संमिश्रण द्वारा प्रकट होती है और जिसका लक्ष्य किसी ऐसे विचार को प्रकट करना होता है, जो जीवन के अपूर्ण, अधूरे, अनीतपूर्व, अतनुभूत, अज्ञात दृश्यों को चित्रित करती हुई, सर्वाङ्गी-

गता की ओर पैर बढ़ाती, संकेत करती है । कला इसी लिये कला है कि वह उसे रूपमान करती है जिससे और हर कोई अपरिचित है अथवा हर कोई जिसकी अभिव्यक्ति से संकोच करता है । कलाकार कोई रूप कला को इस लिये देता है कि एक “कलात्मक अंतर” पाठक तथा कलात्मक रचना में पड़ जाय, जिसके द्वारा वह अपनी अवर्णित व्यथा को पढ़े, उसके गुणों को ग्रहण करे, और उससे उत्साहित हो, बिना इस दुःखद सामीप्य का अनुभव किये कि घटना केवल उसकी अपनी है, अथवा किसी एक अकेले व्यक्तिविशेष (कलाकार) की है, जिसके साथ उसका कला द्वारा समीप का संबंध है । कवि चाहे अपनी रचना में निजी अनुभवों, अनुभूतियों, स्वप्नों के गीत गाता है, परन्तु उन्हें रूप में ढक कर सर्वसामान्य बना देने की शक्ति उसमें होती है । पाठक भी जहाँ उस रचना में अपने हृदय को चित्रित हुआ देखता है, वहाँ वह कला की कृपा से, अपनी कमजोरियों, न्यूनताओं से निराश होने की अपेक्षा, एक नयी दृढ़ता अपनी आत्मा में भरता है । यह ही कला का बड़प्पन तथा उसकी विशेषता है ।

३

उपन्यास

१

जिस किसी ने भी कभी उपन्यास पढ़ा या सुना है, उससे यदि यह पूछा जाय, “कि उपन्यास क्या है”, तो जो उत्तर वह सब से पहले, बिना विचार किये, भटपट देगा, वह यही होगा, “उपन्यास, उपन्यास एक लम्बी कड़ानी जैसी वस्तु का वर्णन करता है।” और यह उत्तर काफी हद तक ठीक है। प्रत्येक उपन्यास का शरीर किसी कहानी के आधार पर निर्मित होता है। और कड़ानी वही सफल होती है, जो हममें यह उत्सुकता जगाये रखे कि “फिर क्या हुआ, और फिर.....और फिर.....” जो कहानी हमारे अन्दर यह कौतूहल उत्पन्न नहीं करती, उसे कला में सफल नहीं कहा जा सकता।

“फिर क्या हुआ ?” हमारे जीवन में आये दिन की पिपासा तथा माँग है। हम समय तथा स्थान के बन्धनों में जीते हैं। कुछ पहले हमारे साथ बीत चुका होता है, कुछ बीत रहा होता है, कुछ बीतने वाला होता है। यह सब कुछ हमारे लिये किसी विशेष आवेष्टन में, धरती के किसी एक भाग पर—दृष्ट अथवा

अदृष्ट—पर घटता है, और एक अच्छी कहानी से हम यह आशा रखते हैं कि वह बताये, “फिर क्या हुआ और कहाँ ?”

पर क्या जीवन में हमारी मुख्य तथा मूलभूत पिपासा तथा माँग यही होती है, कि भावी, चमत्कार अथवा संयोग द्वारा, जो कहानी को विस्मयकारिता तथा लम्बाई बढ़ाते हैं, हमारे आश्चर्य को और भी उकसाया जा सके, यह तीनों चीजें हमारे निज जीवन में प्रायः नहीं होतीं अथवा बहुत कम होती हैं। असभ्य मानव इनमें से आनन्द ढूँढता है, सभ्य मनुष्य इनको किसी और महान आदर्श के आधीन कर देता है, जिस लिये वह जीवन व्यतीत करता है अथवा व्यतीत करना चाहता है। वह केवल “समय”, “परिस्थिति”, “स्थान” की कथा नहीं सुनना चाहता। उसके जीवन में कई ओर “अधिक ऊँचे, अधिक सार्थक मूल्य” भी आकर प्रविष्ट हो जाते हैं, जो “परिस्थिति” अथवा “स्थान” के अनुसार मापे नहीं जाते, अपितु अपनी तीक्ष्णता तथा गहराई द्वारा परखे जाते हैं। इसीलिये “जो फिर..... तो फिर.....” की अपेक्षा “फिर क्यों..... फिर किस लिये” अधिक महत्त्वपूर्ण होकर उभर आते हैं। वह जीवन की पैत्रिक रेखा में इतनी दिलचस्पी नहीं रखता—कोई पैदा हुआ, बड़ा हुआ, काम में लगा, उसने प्यार किया, वह व्याहा गया, और फिर..... और फिर..... मर गया—जितनी उन कुछ विशेष घड़ियों में जिन में वह अपना बचपन उस प्रकार व्यतीत न कर सका जैसे उसके पड़ोस के बच्चों ने किया, वह पूरी तरह खिल

न सका, प्यार करने का उसे अवसर नहीं मिला क्योंकि वह बेकार था या काम बड़ी जीतोड़ मेहनत का था और उजरत कम थी, मुश्किल से एक पेट भरने योग्य, और खाने वाले प्राणी थे अधिक। वह व्याहा गया, पर बिना किसी प्रेम-कथा के निरुत्साह, और केवल अपनी शारीरिक लुधा शान्त करने के लिये और अब वह असमय में ही, अवांछित, भयावह कृष्णवर्ण यमदूत की प्रतीक्षा कर रहा है। वह जानना चाहता है कि ऐसा क्यों हुआ ? या यदि उसे जीवन में कोई ऐसा अवसर प्राप्त हुआ, केवल भावी की सहायता से, जो और बहुतों को प्राप्त नहीं होता, या किसी ने उसकी सहायता की, जो प्रायः जनसाधारण की नहीं होती, अथवा उसे भर पेट खाकर दूसरों की भूख का स्मरण हुआ है अथवा धरती के असम विभाजन का, अथवा परमात्मा का, या प्रेम या धन की वास्तविकता का, तो वह दार्शनिक, नोतिवान, योद्धा, स्वप्न-निर्माता, कलाकार अथवा प्रेमी हो सकता है।

इसलिये हमारा जीवन, काल, परिस्थिति-अनुसार भी जिया जा सकता है तथा किसी आदर्श, दर्शन, मूल्य के आधार पर भी। इसीलिये कहानो भी वही सफल है जो जीवन में केवल कौतूहल, उत्सुकता तथा विस्मय नहीं ढूँढती और न इनके सहारे पर ही जीवन को भुलाती अथवा उसकी अभिरुचियों, आदर्शों को बिगाड़ती है, उल्टे उसको कोई अमर मूल्य प्रदान करती है, जिसके

द्वारा जीवन आगे से अधिक गतिशील, कम जटिल, अधिक धनी, गहरा तथा आकर्षक बन जाता है ।

शब्द-कलाओं में उपन्यास ही एक ऐसी कला है जिसमें जीवन की प्रत्येक समस्या की पूरी पूरी खोज की जा सकती है, क्योंकि एक तो इस सम्बन्ध में उसकी लम्बाई लेखक की सहायता करती है दूसरे वह अपने पात्रों के प्रत्येक कार्य के लिये कारण ढूँढने पर बाध्य होता है । यदि यह कारण केवल भावात्मक, चामत्कारिक होंगे तो उपन्यास का कथानक तो आकर्षक बन जाएगा परन्तु वह महान कला को जन्म नहीं दे सकेगा । अनहोनी, भूतों, परियों, अन्धकार, दरिद्रता, मृत्यु, जादू, स्वाभाविकता, प्रकृति, चित्रण आदि की सहायता द्वारा वह हमारे भावों को अधिक से अधिक विस्तृत कर सकता है, हमें रुला सकता है, भयभीत कर सकता है, प्रेम की रमणीयता में निष्क्रिय लिटा सकता है, हम मुँह में अंगुली दे सकते हैं, कर्णरस की समीक्षा कर सकते हैं, आँखों को तृप्त कर सकते हैं परन्तु जब उपन्यास समाप्त होता है तो हम फिर अपनी वास्तविक तथा रूखी धरती पर आँखें खोलते हैं । तब हमें चाहे उपन्यासकार की चतुराई का अनुभव होता है । वह हमें रुला सकता, भयभीत कर सकता, हमारी आत्मा की थकावट तथा उलझन और भी अधिक होती दिखाई देती है और हमें पता नहीं चलता (क्योंकि हमें उपन्यासकार ने बताया नहीं होता) कि हमारे साथ वह सारा कुछ क्यों नहीं होना जो हमने अभी उपन्यास में पढ़ा था ।

इसीलिये कहा जाता है कि उपन्यास-लेखकों को प्रत्येक प्रकार के ज्ञान से परिचित होना चाहिये । इतिहास, भूगोल, मनो-विज्ञान, विज्ञान, दर्शन-शास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, धर्म-सम्बन्धी नवीनतम ज्ञान उसमें होना चाहिये । अन्य सब कलाकारों के लिये भी ऐसा ही आवश्यक है परन्तु उपन्यासकार के लिये यह अत्यधिक आवश्यक होता है, क्योंकि जहाँ कविता, इंगितों, प्रतीकों द्वारा अपने भेद को थोड़े में समझाती है और भावों को उभार कर प्रेरित करती है, और नाट्यकार को जहाँ रंगभूमि के नियमों अनुसार चलना पड़ता है अथवा कभी कभी कथोपकथन का ढंग बरतना पड़ता है तथा दर्शकों की रुचि का हर समय ध्यान रखना पड़ता है, (वह तालियाँ कब बजायेंगे, शोर कब मचायेंगे) अपनी कला को बाह्य प्रभावों के साथ मिश्रित करना पड़ता है, उपन्यासकार के लिये ऐसी कोई विवशता नहीं । पाठकों की कलात्मक अभिरुचि को परिमार्जित करने के लिये, उन्हें रसाप्लावित करने के लिये, उनका ध्यान खेंचने के लिये कई प्रकार के साधनों का उपयोग उपन्यास के लिये भी आवश्यक हैं । इनके बिना उसकी कला को कौन पढ़ेगा ? परन्तु उसके लिये स्वतंत्रता इतनी है जीवन का हर कोना ढूँढने की, प्रत्येक समस्या का समाधान करने की, प्रत्येक प्रकार का ज्ञान-दान करने की कि यदि वह इससे लाभ नहीं उठाता तो सचमुच उसने अपनी कला को अनजाने गँवा लिया है ।

(अ) उपन्यासकार यह नेतृत्व सीधा अपनी ओर से भी दे

सकता है। (आ) अपने पात्रों द्वारा भी। (इ) चिट्ठी-पत्री द्वारा भी।

वह प्रायः किसी पात्र को ही अपने दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति का साधन तथा आवरण बना कर इस तरह करता है। ऐसा करने से उसकी कला का भ्रम भी कायम रहता है, रस भी नहीं सूखता और लेखक का उद्देश्य भी पूरा हो जाता है।

इस के लिये उपन्यासकार कहानी का ढाँचा या कथानक रचता है। कथानक को कई प्रमाता कहानी समझते हैं। यह ठीक नहीं। कहानी हमें केवल पदार्थों की समयानुसार प्रवर्तित गतिविधि ही दरसाती है। कथानक इस बदलती गतिविधि के कारण समझाता है। कहानी के लिये केवल उत्सुकता पैदा करना आवश्यक होता है, “आगे क्या हुआ.....और फिर और फिर” का अभ्यास। कथानक के लिये यह बताना आवश्यक है, कि “ऐसा क्यों हुआ?” अर्थात् प्रत्येक कार्य के लिये उसका मूलस्रोत, कारण ढूँढना ताकि कहानी विश्वसनीय सिद्ध हो सके।

रोमांचक—अथवा जासूसी उपन्यासों में भी प्रत्येक कार्य का कारण ढूँढा जाता है चाहे वह साधारण परिस्थिति में मान्य न भी हो। तब भी जब कभी हम ऐसे उपन्यास पढ़ते हैं तो हम अपनी तर्कशक्ति को एक ओर रखकर केवल हृदय अथवा भावों की अगवाई स्वीकार करके प्रत्येक प्रकार के आघातों पर विश्वास करते जाते हैं। यथार्थवादी उपन्यासों में कार्यों के

कारण इससे अधिक जटिल होते हैं—सामाजिक वातावरण अथवा कोई निजी गुण अवगुण (जो प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु पात्र के हृदय के किसी कोने में छिपा होता है और कभी क्रियान्वित होकर प्रकट हो जाता है) । अकारण घटना, संयोगवश मिलन, आदि भी कई बार ऐसे उपन्यासों में छोटे मोटे कारण बन जाते हैं, परन्तु बड़े पैमाने पर नहीं ।

इसलिये, कथानक कहानी का चौखटा है, जो एक तो कहानी के प्रत्येक विस्तार को सीमा में रखता तथा उसे विश्वसनीय बनाता है; दूसरे उसको एक विशेष व्यवस्था, क्रम, नियम प्रदान करता है जिसके बिना कोई कलात्मक रचना सम्पूर्ण नहीं कही जा सकती ।

कथानक किसी कहानी को एकदम खुलने नहीं देता । “जादू के दीपक” की तरह धीरे धीरे एक एक भलक आँखों के आगे से गुजरती है । पहले कहानी की समस्या खड़ी की जाती है, मध्य में जाकर उसे और गहरा, जटिल, वलित बनाया जाता है; और फिर धीरे धीरे, एक एक करके उसकी गाँठें खोलकर कहानी को “घर पहुँचाया जाता है ।” प्रत्येक कथानक के लिये ऐसी कला का उपयोग आवश्यक है । जिस कथानक ने अपने सभी पक्ष एकदम मेज पर रख दिये, वह कहानी में नोरसता पैदा करके उपन्यास को फीका कलाहीन, झँवाडोल बना देगा । जीवन की तरह प्रत्येक दृश्य धीरे धीरे खुले, और हर घड़ी यह जानने की तृष्णा रहे, “कि आगे क्या होगा ।” जिस उपन्यास के पूर्वार्ध में ही यह पता

लग गया कि उत्तरार्ध में यह होने वाला है, उसे कौन पढ़ेगा । वह जीवन भी अस्वाद्य, निष्प्रयोजन हो जाता है, जिसकी प्रत्येक ऊपा की अरुणिमा किसी नवीन संदेश में रंगी नहीं होती । पहले से देवी जन्मपत्री जीवन में से सारा आनन्द खेंचकर बाहर फेंक देती है । इसलिये कहानी धीरे २, विनयपूर्वक कोई समस्या हमारे सामने खड़ी करे । इसका अर्थ यह नहीं कि कहानी के प्रारम्भ में एक लम्बी चौड़ी भूमिका लिखी जाय, अपितु यह है कि कहानी के सारे पेच शुरू में ही न खोल दिये जायें । सब कुछ किसी नियम, क्रम के अनुसार खुले, धीरे धीरे वह समस्या और जटिल, गहरी होती जावे (मध्य में जाकर सब से अधिक); फिर धीरे धीरे परिवर्तन आये और समस्या का समाधान होना प्रारम्भ हो, यहाँ तक कि अन्त में सब तारें एक एक करके हमारे सामने खुल जायें । कथानक का मुख्य महत्त्व भी यही है कि वह कहानी में कोई ढीला हिस्सा न रहने दे; प्रत्येक शब्द और प्रत्येक क्रिया का कोई प्रयोजन हो । कोई अनावश्यक कथा अथवा विस्तार, जिसका कहानी के साथ सम्बन्ध न जोड़ा जा सके, बीच में नहीं लाना चाहिये । कथानक चाहे सीधा सादा, इकहरा हो, चाहे दोहरा और पेचीदा; उपन्यास-लेखक को उसे सरल बनाना तथा उसे किसी भाव या आदर्श के—जो उस उपन्यास का मूल आशय हो—आधीन कर देना चाहिये, ताकि पाठक सम्पूर्ण कृति को एक “सजीव इकाई” (Organic whole) समझ सके, तथा सारी रचना का प्रभाव रस और सौंदर्य से पूर्ण हो । परन्तु कलात्मक

रस तथा सुन्दरता उत्पन्न करने के लिये यदि विशेष परिश्रम कृति में से भक्तकता दिखाई दे तो “यत्न” का प्रभाव रचना के प्रभाव को नष्ट कर देगा । प्रभाव को एकता, मूलविचार की एकता, विन्यास की परिपक्वता, शैली की समीचीनता आदि से सहज ही उत्पन्न हो जायेंगे ।

कथानक, जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया है, इकहरा भी हो सकता है और दोहरा भी । अर्थात् उसमें एक कहानी भी हो सकती है और दो भी । जब कहानियाँ दो हों, (और प्रायः दो से अधिक सम्पूर्ण कहानियाँ कभी नहीं होतीं, साधारण वर्णन चाहे, इंगित-मात्र कई हों) तो लेखक के लिये एक कहानी को दूसरी के आधोन रखना आवश्यक है । भाव, एक कहानी दूसरी के क्लृप्ताकलाप का या तो समर्थन करे, और इस तरह उसके प्रभाव को गाढ़ा, गहरा करे, अथवा उसके सामने खड़ी हो और अपनी क्रियाओं के विरोध द्वारा बड़ी कहानी के आशय को चमकावे । जैसे एक लम्बी रेखा को लम्बी प्रमाणित करने के लिये उसके साथ एक छोटी रेखा अंकित करने पर पहली की लम्बाई भट उभर आती है, इसी तरह किसी प्रभाव को तीखा करने के लिये लेखक विरोध (Contrast) और मेल (Harmony) दोनों साधनों का प्रयोग करता है । देखनेवाली बात यह है कि सारी रचना का प्रभाव एक ही, तीखा होकर उभर आये । मूल कहानी उसी प्रभाव पर प्रकाश डाले; सहायक कहानी उसी प्रभाव को विरोध अथवा मेल द्वारा और चमकावे । इसी प्रकार एक भाव दूसरे पर निर्भर

हो, प्रत्येक क्रिया का कोई कारण हो और वह अपने स्वाभाविक रूप में विकसित हो, साधारण बातें लेखक के स्पर्श से विशेष बनकर उभर आयें, क्रियाओं का प्रवाह ऐसा बेरोक चले कि हमें स्वाभाविक, क्रमबद्ध तथा विश्वसनीय प्रतीत हो; और कहानी का अन्त ऐसा हो जो पूर्ववर्णित आघातों का आवश्यक परिणाम प्रतीत हो, और सारी कृति का प्रभाव हमारे हृदय पर एक “कलापूर्ण व्यवस्था” का पड़े। तब ही कथानक कलापूर्ण तथा आकर्षक बनाया जा सकेगा। पर ऐसे कथानक में से यदि चतुरता अथवा यांत्रिक गठजोड़ दिखाई दे जावे तो इसका प्रभाव भी नष्ट हो जाता है। अथवा जब संयोगवश मिलन (Coincidence) का प्रयोग आवश्यकता से अधिक किया जाय अथवा जब कोई घटना या पात्र सापेक्ष होने पर तुरन्त उपस्थित हो जावे, तो चाहे इस प्रकार कथानक अधिक मान्य हो जावेगा, परन्तु अकारण-घटना पर अधिक निर्भर होने के कारण वह जीवन से दूर-दूर प्रतीत होगा और हमारे विश्वास की सीमा को पार करके कथानक की स्वाभाविकता को नष्ट कर देगा।

कथानक ढीला भी हो सकता है, जिसमें विकास बहुत कम हो, —कई घटनाओं का एकत्रीकरण जो अपने आप में पूरी तरह एक साँचे में जुड़ी नहीं हुई। कई महान् उपन्यासों का कथानक इतना “व्यवस्थापूर्ण” नहीं जितना “विस्तृत” है, उनमें जोड़ मेल तथा गठन को एकता नहीं, जिसका वर्णन हमने ऊपर किया है। पृथक् पृथक् घटनायें बहुत आकर्षक हैं, परन्तु सम्पूर्ण कृति का

कोई सर्वांगपूर्ण ढाँचा नहीं मिलता, जिसकी सहायता या विकास के लिये प्रत्येक विस्तार एक विशेष कार्य पूरा करता है । एक दृश्य में से दूसरा दृश्य तो उत्पन्न हो जाता है, पात्र एक दूसरे से कंधा भिड़ा कर भी गुजरते हैं परन्तु सारी रचना का मेरुदण्ड कोई नहीं होता । वह उपन्यास जिनमें नियति अथवा घटनाओं की अपेक्षा पात्र-चित्रण मुख्य हो उनका कथानक प्रायः ढीला होता है । वहाँ कथानक को व्यवस्थित करने, कड़ानी की सब तारें जोड़ने, एक कर्म को दूसरे का मूल जतलाने अथवा विशुद्ध, विस्मय, अभिरुचि अथवा कौतूहल उत्पन्न करने की अपेक्षा मनुष्यों के मानसिक उतार-चढ़ाव का वर्णन करने तथा चरित्र-चित्रण पर सारा जोर लगाया जाता है । इसलिये कथानक की बुनत ढीली रह जाती है, चाहे उसमें स्वाभाविकता की कमी नहीं होती । परन्तु केवल यही अवगुण किसी उपन्यास को घटिया नहीं बना सकता, यदि उसमें बाकी के गुण, जिनका विस्तार हम आगे करेंगे, वर्तमान हों । उपन्यास का स्वरूप निर्णय करते समय हम इस सम्बन्ध में पूरे विचार प्रकट करेंगे ।

इसी प्रकार, पदार्थों का केवल आकर्षक वर्णन भी जिसमें शक्ति, नूतनता तथा रमणीयता हो, हृदय को प्रेरित कर सकता है; चाहे उसमें किसी नये “मूल्य” का निर्माण नहीं किया जाता । चेष्टा का प्रभाव डाले बिना, सहज स्वभाव, कड़ानी किसी ऐसी विशुद्ध तथा बलवान गति से चलती है कि रस देती है परन्तु ऐसी रचना महान कृति कभी नहीं बन सकती, वह आनंद दे सकती है पर

नेतृत्व नहीं कर सकती । इसलिये वह उत्तम रचना नहीं कहला सकती ।

तब भी प्रत्येक उस उपन्यासकार के लिये, जो किसी महान आदर्श द्वारा प्रेरित हुआ है, यह जानना जरूरी है कि वह अपने मूल विषय को ऐसे सम्पूर्ण कलात्मक रूप में प्रस्तुत करे कि नेतृत्व रसपूर्ण हो । कलाकार प्रचारक भी है, उसका उद्देश्य केवल कला की सृष्टि नहीं । तब भी कलाकार को सीधा प्रचार करने का कोई अधिकार नहीं । जिस आदर्श की पूर्ति के लिये वह कला का उपयोग करता है वह कभी प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक उसकी कला सर्वाङ्गपूर्ण न हो । प्रचारक कलाकार तब ही कहलायेगा, जब वह कला के नियमों तथा संयम में बाँध कर, कला की भ्रान्ति पूरी तरह उत्पन्न करके, आदर्श को रूपमान करे । साथ ही लेखक केवल उन्हीं अनुभवों, कौतुकों का वर्णन करे, जिनके साथ चाहे निजी जीवन द्वारा, चाहे किताबी दुनिया द्वारा, उसका घनिष्ठ परिचय हो गया हो । कई उपन्यासों की कलात्मक अपरिपक्वता का मुख्य कारण यही होता है कि लेखक उस किसी वस्तु को विस्तृत करने लग जाता है, जिसकी सूझ उसे आप भली भाँति नहीं होती । एक महिला कलाकार यदि केवल स्त्रियों के बारे में लिखे तो इसमें अपमान की कोई बात नहीं; अथवा यदि कोई किसानों, कामगारों नागरिकों, पूंजीपतियों, बच्चों आदि में से किसी भी एक वर्ग के बारे में लिखता है, जिसे वह भली भाँति पहचानता है । इसी प्रकार लेखक को स्थानों के सम्बन्ध में भी करना चाहिये । जिन

देशों के वह कोने-कोने को जानता है, जह के रस्म-रिवाज, विश्वास, इतिहास, लोकगीत, सामाजिक रूप, उपभाषा, धरती ज्ञान का उसे पूरा पूरा पता है, यदि वह अपने पात्रों की 'सैटिंग' वहां ही करेगा तो उसे अधिक सफलता प्राप्त होगी। चाहे वह पृष्ठभूमि कुछ मीलियों के अन्दर ही सीमित क्यों न हो।

यह तो हुआ कथानक के चुनाव के लिये सीमा-निर्धारण। कथानक का मूल क्या हो, इसके बारे में अधिक विस्तार आगे चल कर करेंगे। यहाँ यही बता देना प्रर्याप्त होगा कि कथानक जीवन की ऐसी मूल-तृष्णाओं के साथ सम्बन्धित हो जाना चाहिये, जिनका नाता प्रत्येक समाज के सक्रिय जीवन के साथ है। उपन्यास रोमांचक भी हो सकता है, विशुद्ध, घटनापूर्ण अथवा किसी अद्भुत वातावरण को विकसित करता हुआ भ्रमण-वर्णन जैसा भी, विज्ञान सम्बन्धी भी, ऐतिहासिक भी, युद्धवृत्तान्त की तरह का भी, पारमार्थिक भी, पशु-सम्बन्धी भी। प्रत्येक स्वरूप का अपना अपना मङ्गल है परन्तु उपन्यास का कथानक वही सर्वश्रेष्ठ होता है, जो मानव-हृदय को सदा के लिये प्रेरित करता रहता है—उनके अपने मानसिक तथा शरीरिक संघर्षों द्वारा, प्रेम अथवा तृष्णा द्वारा मनुष्य को मनुष्य के तौर पर प्रेरित करता है—देश, काल, जाति को सीमायें फाँद कर—जो हर किसी जीवन पर घटता है और उसमें भावी चमत्कार जादू, रोमांस आदि का स्थान पर मनुष्य की अधोगति के कारणों—मानसिक तथा सामाजिक—को ढूँढ कर उसमें से समूचे मनुष्य को जगाया जाता तथा उसे एक

नये चिंतित की बात सुनाई जाती है। संसार के महान उपन्यास-कारों, जैसे कि, गोर्की, तोलस्तोय, हार्डी, जार्जइलियट, चार्ल्स डिक्कन्स, हक्सले, प्रेमचंद आदि की रचनायें पढ़ने से यह कथन पूरी तरह यथार्थ सिद्ध हो जाता है।



इसलिये हमारा उपन्यास पढ़ने का मुख्य उद्देश्य यह है कि हम और मनुष्यों ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मनुष्य जाति को अधिक गहरी दृष्टि से परखना चाहते हैं। विशेष विशेष परिस्थितियों में मानव-हृदय कैसे बदलता है, उस पर किस प्रकार की प्रतिक्रियायें होती हैं और क्यों होती हैं, क्या मानव अपने आवेष्टन का, नियति अथवा किसी दैवी कानून का खिलौना है या उसे बदल सकने को भी सामर्थ्य रखता है। समाज क्या है, कानून क्या है, क्या इनके मूल्य अटल हैं अथवा समय के परिवर्तन के साथ या प्रतिभाशाली मानव हृदय के विद्रोह द्वारा बदलते रहते हैं। मानव की मूल तृष्णायें, आवश्यकतायें क्या हैं? क्यों मानव का अन्तः-करण उसके बाह्य के साथ जूझता रहता है; दोनों एक समान क्यों नहीं सोचते, कार्य करते? आत्मा की वास्तविकता क्या है? अवसान क्या है? प्रेम क्या है? जीना क्या है? क्या आत्मा आत्मा के साथ जुड़ बैठती है, अथवा नहीं बैठती, इसलिये कि कोई और शक्ति—धर्म, समाज, लोकाचार, निजी मानसिक अथवा आर्थिक दुर्बलता—उसका राह रोके बैठी है। सृष्टि का क्या कोई

नियम है ? यदि है तो क्या यह नियम ढूँढा जा सकता है ? इस नियम को नियमितता, क्रम कौन देता है और कैसे ? देश प्रेम की वास्तविकता क्या है ? संसार के बाकी प्राणियों के साथ हमारे सम्बन्ध क्या हैं । पुरुष का नाता स्त्री के साथ क्या है और वायु, जल, अग्नि, आकाश, तारे, चन्द्रमा, सूर्य क्या हैं ? क्या इनका मनुष्य के जीवन पर कोई प्रभाव पड़ता है, कैसा, कितना और क्यों ? संक्षेप में आत्मा का प्रत्येक प्रश्न, अस्थिमांस की प्रत्येक लालसा, मस्तिष्क को अस्थिर कर देने वाला प्रत्येक विचार, कला से विश्वसनीय, नेतृत्वपूर्ण उत्तर मांगता है और जैसे कि हम बता आये हैं, उपन्यास से विशेषतया, तथा सम्पूर्ण-रूपेण, क्योंकि इसका क्षेत्र पर्याप्त विशाल है और इसीलिये यह रंगारंग जीवन के हर पक्ष का चित्रण कर सकता है । उपन्यास ने कला के बाकी प्रत्येक पक्ष को पीछे फेंक कर अपना विशिष्ट तथा ऊँचा स्थान इसीलिये बना लिया है ।

उपन्यासकार यह काम कैसे पूरा करता है ? सीधा उपदेश वह दे नहीं सकता, क्योंकि वह कलाकार है तथा कला का भ्रम बनाये रखना उसके लिये आवश्यक है । असंगत तथा मुँह में आयी हर बात भी पात्र से कहला नहीं सकता, जिसका उसकी कहानी के ढाँचे के साथ सम्बन्ध न जोड़ा जा सके । इसलिये वह कथानक तथा कहानी ऐसी घड़ने के सिवाय (जिस द्वारा उसके आदर्श को एक अभिरुचिपूर्ण भ्रांति तथा कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया जा सके) वह पात्र-चित्रण से काम लेता है, अर्थात् वह

अपना भेद समझाने के लिये पात्रों को इस तरह घड़ता है कि प्रत्येक पात्र उसके दृष्टिकोण के किसी न किसी अंग का द्योतक बन जाता है, ऐसे स्वाभाविक ढंग से तथा ऐसे संगत आवेष्टन में, कि हम उन्हें रक्त-मांस के सजीव प्राणी समझते, उनके दुःख-सुख के भागीदार बनते, उनके विचारों में अपने आप को डुबो देते हैं ।

ये कल्पित आकार किम प्रकार अस्थि मांस के देश में आ उतरने, हमें दिलोरें देते, जगाते, कुछ बताते तथा प्रेरित करते हैं । यह उपन्यासकार की रचनात्मक, यथार्थवादी दृष्टि तथा चिन्तन-शक्ति का ही परिणाम हो सकता है । कई इसे दैवी दान, आन्तरिक सूझ की उपज कहते हैं, जैसे प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार थैक्करे कहा करता था, “मैं अपने पात्रों को यत्नपूर्वक नहीं घड़ता, मैं तो उलटा उनके हाथों में होता दूँ और वे मुझे लिये फिरते हैं, जिधर वे चाहें ।” पात्र अपने आवेष्टन से इस तरह प्रभावित होते, उसके साथ टकराते अथवा उसके प्रभाव में सराबोर हो जाते हैं कि इसी उपन्यासकार के कथनानुसार, “पता नहीं चलता था कि पात्र ऐसी बात क्यों कह गये जो लेखक के चित्त में भी नहीं थी ।” किसी सीमा तक यह ठीक है । मनो-विज्ञान के विद्वान भी इस क्रीड़ा को मानते हैं तथा प्रतिभाशाली कलाकारों का अनुभव भी एक तरह इसका समर्थन करता है । “प्रतिभा” तथा (“कृत्रिमता”) में यही भेद भी है कि जहाँ “प्रतिभा” चकित करती, विस्मयदान करती, एक स्वाभाविक प्रवाह

तथा सामर्थ्य की द्योतक होती है, वहाँ “कृत्रिमता” केवल तोड़ती, फोड़ती, घड़ती, जोड़ती, चेतन यत्न का सीधा प्रभाव डालती हुई कला से ‘कृत्रिम कला’ को अलग करती है ।

परन्तु कलात्मक परख का उद्देश्य उन सूक्ष्म, अचेतन, अनिर्णीत, विस्मयजनक आवेगों, लहरों का अंग-विश्लेषण करना नहीं, केवल उनकी शक्ति की ओर संकेतमात्र करना है । परख की भाषा में हम यही कह सकते हैं कि जितनी सूझ वाला ज्ञानी तथा जानकारी रखने वाला कोई उपन्यासकार होगा, जितना उसने जीवन को तथा तत्सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु को देखा, पलटाया, अथवा उसके बारे में पढ़ा, सुना होगा, और साथ ही जितनी अधिक कला द्वारा (श्रम का भार डाले बिना) वह उसका वर्णन करेगा, उतना ही सफल वह अपनी कला में समझा जायेगा ।

क्योंकि पात्र-चित्रण में जहाँ नाट्यकार को लिखित कथोप-कथन में बाह्य कलात्मक शृंगार, वेष-भूषा, आभूषण, रंग-रोगन, परदे के दृश्यों, स्वभाव आदि की पर्याप्त सहायता मिलती है, वहाँ उपन्यासकार केवल अपनी लेखनी द्वारा उन सारी अभिरुचियों, दृश्यों, प्रवृत्तियों, दृष्टि आदि का वर्णन करता है जो नाट्यकार को रंगभूमि के बाकी उपकरण मुफ्त में दे देते हैं । इसलिये उसे वर्णन-कला में अत्यन्त प्रवीण होना चाहिये, ताकि पात्रों का न केवल प्रत्यक्ष व्यक्तित्व, अपितु प्रत्येक न्यूनतम, आघात (जिसका कोई विशेष महत्व हो) क्या मानसिक, क्या शारीरिक पाठक के हृदय पर तीखा होकर उभर आये । उसके बोलने की निजी गति

तीक्ष्ण क्रोधपूर्ण, शान्त, विचारशील, विलापमय, तिरस्कारपूर्ण—जैसी भी हो, उसका विशेष शारीरिक रूप, उसके हाव-भाव की विशिष्टता, उसके विचारों का विकास—सब कुछ पाठक पर दृढ़ किया जाय। सूईकारी की तरह विस्तार-पूर्वक नहीं, जो एकादम शास्त्रीय, कल्पित अथवा यांत्रिक तथा परम्परागत प्रतीत हो, अपितु वह जो उसमें व्यक्तिगत तथा पृथक् है और उसे अन्य पात्रों से अलग करता है। बड़े तथा छोटे कलाकार का भेद यही है कि पहला तूलिका के एकाध स्पर्श द्वारा हमारे आवेगों को स्पन्दित कर देता है तथा दूसरा जानकारी के ढेर के लगाकर भी कुछ समझा नहीं पाता।

यह तो हुआ पात्र-चित्रण का बाह्य अंग—प्रत्यक्ष, अनुभूति-शील, समीप दिखायी देने वाला। एक अंग (और सब से महत्वपूर्ण) इसका मानसिक है, अर्थात् पात्रों के अन्तःकरण को हमारे सामने ज्यों का त्यों उतार देना। इसके लिये उपन्यासकार दो वेधियों का प्रयोग करते हैं—एक सीधी, अंगविश्लेषणात्मक तथा दूसरी टेढ़ी, नाटकीय। पहली दशा में लेखक अपने पात्रों के आन्तरिक भावों, मूल विषयों, विचारों, प्रवृत्तियों का अपनी ओर से वर्णन करता, उन पर टीकाटिप्पणी करता तथा अपना निर्णय देता है। दूसरी परिस्थिति में वह आप दूर खड़ा रहता है तथा पात्रों के अपने मुँह से (अथवा दूसरों को उन के बारे में) वार्त्तालाप तथा आघातों द्वारा यह सब कुछ अभिव्यक्त करता है। और क्योंकि उपन्यास में वर्णन तथा वार्त्तालाप दोनों का एक जैसा

अयोग किया जाता है, इसलिये प्रायः उपन्यासकार पात्र-चित्रण के लिये दोनों ढंगों का प्रयोग करता है परन्तु नयी परख नाटकीय ढंग को अधिक अच्छा मानती है, जिसमें पात्र या तो अपने कामों, भाषा, संकेतों आदि द्वारा अपना आप प्रकट करें अथवा अन्य पात्र उनपर टीकाटिप्पणी करके उनके चरित्र को निखारें । पर क्योंकि उपन्यास नाटक नहीं और यह कला का पृथक् अंग इसी लिये है कि इसमें दोनों विधियों का प्रयोग करने की स्वतंत्रता है, इस लिये उपन्यासकार की ओर से सीधा अंग-विश्लेषण भी वर्जित नहीं, न ही यह कला की अपरिपक्वता है, जैसा कि कई कहते हैं ।

पात्र-चित्रण सम्बन्धी एक बात और भी स्मरणीय है । जितना कुछ और जो कोई भी, जीवन का खंड उपन्यास में प्रस्तुत किया जाये, पात्र उसे आवेष्टन में से ही उपजायें, बनायें, बिगाड़ें । उनके लिये सारा संसार केवल उपन्यास का क्षितिज ही हो, उसके बाहर कुछ भी नहीं । इसलिये यह हर समय उचित है कि पात्र-चित्रण उपन्यास में धीरे धीरे किया जावे । पात्र पूर्ण-निर्मित, एकरूप बे-लचक, व्यक्तित्व लेकर न आयें । अपितु कोई एक प्रवृत्ति—अच्छी या बुरी—लेकर पहले उपस्थित हों । धीरे २ वे भुकाव अन्य व्यक्तियों के मेल जोल, घटनाओं के परिवर्तन, निजी अनुभव अथवा ज्ञान वृद्धि आदि द्वारा और उभर आयें या हलके हो जायें, फीके पड़ जायें । परन्तु कई लेखक इसके स्थान पर किसी असाधारण संयोग-वश मिलन, अकारण घटना अथवा नैतिक गतिविधि द्वारा पात्रों के आचरण को अनश्वर मोड़ दे जाते हैं । दोनों परिस्थितियों में

हमें देखना यह चाहिये कि क्या आचरण में परिवर्तन स्वाभाविक कारणों से हुआ है और क्या वह मानसिक तथा भावात्मक दोनों प्रकार से हमें सन्तुष्ट करता है, अपनी सचाई तथा सामर्थ्य द्वारा । जीवन में यह प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक जीव के खमीर में कर्त्ता ने (या यूँ कहिये कि परिस्थितियों ने, विरासत ने, समाज ने) एक ऐसा बीज डाल दिया होता है, जो उसको एक ओर प्रेरित करता रहता है, जैसे यह उसको आत्मा की प्रतिध्वनि हो । ज्ञान में वृद्धि, परिस्थिति में परिवर्तन, अन्य लोगों के प्रभाव द्वारा यह विशेष प्रवृत्ति या तो और भी तीखी, गाढ़ी होती जाती है अथवा पतली, मद्धिम पड़ती जाती है । यही मनुष्य के दुःखमय अंत अथवा सुखमय अंत का कारण होता है । जो लेखक मनो-विज्ञान के इस पहलू को स्वीकार करके अपनी रचना का पात्र-चित्रण करते हैं, उनका प्रभाव तीखा, सचाई-भरा तथा विश्वसनीय बन जाता है । मानव को नियति की कृपा पर दिखाना अथवा किसी ऐसी व्यवस्था की कृपा पर, जो हमारे वश से विल्कुल बाहर हैं, अथवा किसी ऐसे स्वभाव के—सामाजिक अथवा निजी—जो बदला नहीं जा सकता—(हार्डी तथा अनेक धार्मिक लेखक इस प्रकार भी अपनी दुःखान्त रचनाओं का कारण ढूँढते हैं) मनो-विज्ञान को झुठलाना है । आवेष्टन, समाज, निजी स्वभाव, प्राकृतिक प्रकोप, सब कुछ बदले जा सकते हैं (और बदले जा रहे हैं), केवल ज्ञान की कमी है अथवा उसका प्रचार करने वाली और उसे क्रियान्वित करनेवाली शक्ति की ।

इसलिये पात्र-चित्रण वही विश्वसनीय है जिसमें पात्र अपनी परिस्थितियों—अथवा कथानक—में से उभरते हों तथा दोनों यूँ घुले मिले हों कि पहचाने न जायें। परिस्थितियाँ ही मनुष्य को बनायें, बिगाड़ें, परिस्थिति के परिवर्तन से मनुष्य और का और होकर चमके। मानव-हृदय की प्रत्येक प्रवृत्ति किसी न किसी सामाजिक दशा का परिणाम होती है और उसके परिवर्तन के साथ बदली जा सकती है। इसलिये पात्रों की कतरव्योंत करके उन्हें कथानक के आधीन कर देना, जैसे आघात-उपन्यासों (Novels of Action) में होता है—और जैसे कथानक में परिवर्तन करना हुआ, उसी के अनुसार पात्र को पीछे पीछे नचाये फिरना—जासूसी अथवा रोमाञ्चक कहानी तो उत्पन्न कर सकता है परन्तु पात्र-चित्रण नहीं। चरित्र—उपन्यासों में (Novels of Character) जैसे कि पहले कहा जा चुका है, लेखक कथानक के जोड़-मेल से कई बार बड़ी लापरवाही दिखाते हैं, परन्तु बढ़िया उपन्यास वही है, जिसमें पात्र कथानक में से ही उत्पन्न होते तथा उस पर, जैसे एक दूसरे पर, अपना प्रभाव अंकित करते जाते हैं, सहज स्वभाव, अप्रतीत, राह चलते हुये। संसार के सब सर्वश्रेष्ठ उपन्यास इसी प्रकार पात्र-चित्रण के साथ, न कि कर्मक्षेत्र के साथ, सम्बन्ध रखते हैं, अर्थात् उनमें घटनाओं का आकर्षण, रोमांस, भावी, संयोगवश मिलन तथा विस्मय इतना नहीं होता, जितना यह कि मनुष्य क्या कुछ कर सकता है और क्या कुछ नहीं करता। क्योंकि या तो वह अनजाने अथवा जानकर भी, ज्ञान

को क्रियान्वित करने में असमर्थ है। यही जीवन का दुःखमय अन्त (ट्रैजेडी) है।

३

चाहे उपन्यासकार पात्र-चित्रण कर रहा हो, अथवा पदार्थों, परिस्थितियों, आवेगों का अंग-विश्लेषण करता हुआ कथानक खड़ा कर रहा हो, अथवा अपनी रचनात्मक सूक्ष्म तथा कला शक्ति का ज्ञान हममें दृढ़ कर रहा हो, वह यह सब कुछ केवल शब्दों की सहायता द्वारा ही करता है। और चाहे वह नाटकीय ढंग का प्रयोग कर रहा हो या सीधे आत्मवर्णन के ढंग का, दोनों परिस्थितियों में वह कथोपकथन का प्रायः उपयोग करता है। साधारणतया कश्मीरी की मोड़-तोड़ तथा परिवर्तन अथवा पात्रों की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार बदलती प्रकृति का परिचय हमें कथोपकथन द्वारा ही होता है। हमें पता चलता है कि पात्रों पर, किसी विशेष अवसर पर क्या विशेष प्रभाव पड़ा। वार्तालाप में वे अपने निजी आत्मिक मुकामों को अधिक स्वाभाविक ढंग में कह सकते हैं तथा जितना यह वार्तालाप प्रभावशाली, समयोचित तथा पात्रों के स्वभाव और भाषा के साथ मिलता होगा, उतना ही अधिक वह उपन्यासकार की कला को चमकायेगा, उतना ही अधिक नाटकीय प्रभाव हृदय पर अंकित हो जावेगा, उतने ही अवसर तथा पात्र हमारे हृदय पर चित्रित हो जावेंगे।

चाहे वार्तालाप को कथानक के विकास के लिये भी बरता जाता है, जैसे नाटक में, (जब वार्तालाप के ऊपरी स्तर के नीचे आघातों की लड़ी विकसित होती दिखायी देती है) परन्तु उपन्यास में यह प्रायः पात्र-चित्रण के लिये ही बरता जाता है । कहानी का वर्णन तो उपन्यासकार की अपनी भाषा में भी किया जा सकता है, परन्तु जब पात्रों के भीतरी हाव-भाव को कलाकार अपनी भाषा में बौधता है तो वह कलात्मक भ्रम कायम नहीं रहता, जो प्रत्येक कला के प्रभाव को तीखा करने के लिये अपेक्षित है । इसीलिये उपन्यास में वार्तालाप का उपयोग प्रायः पात्र-चित्रण के लिये किया जाता है । इसके द्वारा पात्रों के आवेग, विश्वास, आदर्श ज्यों के त्यों चित्रित किये जा सकते हैं, पात्रों के एक दूसरे पर प्रभाव का विश्लेषण किया जा सकता है, साथ में उन भावों का जो घटनायें पात्रों पर बैठती हैं ।

इसलिये उपन्यास-लेखक के लिये वार्तालाप की कला का प्रयोग एक पहली आवश्यकता है । अर्थात् एक तो वार्तालाप का कथानक अथवा पात्र-चित्रण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो, यूँ ही चतुरता का प्रभाव डालने तथा वार्तालाप को रसपूर्ण बनाने के लिये उसे ऊपर से ठोंसा न जाये । इस तरह करने से रस की एकता भंग हो जाती है । कथानक की वास्तविक आवश्यकताओं के बिना वार्तालाप का प्रयोग वहाँ पर ही उचित है जहाँ वह पात्र-चित्रण के लिये आवश्यक हो ।

दूसरे, वार्तालाप स्वाभाविक, समीचीन तथा नाटकीय हो ।

अर्थात् वह बोलनेवालों के स्वभाव, उस अवसर-विशेष पर जहाँ उसका उपयोग हो रहा है और यथासम्भव पात्रों की निजी उपभाषा के अनुसार हों। जहाँ तक हो सके, वह सरल, ताजा, तीखी तथा रसदायक हो। यह तो सब जानते हैं कि हम दैनिक जीवन के वार्तालाप में (चाहे वह विद्वानों में हो अथवा अपढ़ गँवारों में) बहुत कुछ निरर्थक तथा नीरस कहते चले जाते हैं। कितना, कुछ हम बार-बार दुहराते हैं तथा चाहे अवसर कितनी भी मंभीरता अथवा उत्साह का उभार माँगता हो, हमारी बातचीत (यदि वह ज्यों की त्यों उपन्यास में रख दी जाये) अत्यन्त दोष-पूर्ण, निर्जीव, बे-लचक जैसी होगी। इसलिये यदि इससे बचने की खातिर कोई लेखक केवल किताबी, कठिन और भारी हो जावेगा तो वह भी अपनी रचना में से जीवन समाप्त कर लेगा। लेखक का लक्ष्य इन दोनों सीमाओं के मध्य में कहीं होना चाहिये, जिसके साथ एक तो स्वाभाविक शक्ति तथा भाषा का भ्रम उत्पन्न हो, दूसरे उसमें वह निर्जीवता तथा पुनरुक्ति न हो जो साधारण बातचीत में होती है।

नाटकीय गोष्ठी जो प्रेरणा देती है, वह थियेटर की नोक-भोंक नहीं दे पाती। भावात्मक वार्तालाप से रसप्राप्ति होती है, न कि आवेगपूर्ण वचनप्रवाह से। और यह प्रायः देखा-जाता है कि जब हम किसी महान् भावना की पकड़ में होते हैं—वह सुख की हो, दुःख की, क्रोध अथवा युद्ध की या प्रेममिलन की—हम या तो बिल्कुल मौन हो जाते हैं अथवा बहुत कम बोलते हैं, या जो मुँह

में आये, वही बोलते जाते हैं। वहाँ हमारा उद्देश्य कला की उत्पत्ति अथवा रसदान नहीं, अपितु किसी 'भावी' को टालना होता है। कलाकार इस मूल-सामग्री के ऊपर लगी अनावश्यक मिट्टी भाड़ कर, उसे प्राकृतिक रंग देता हुआ भी, बहुत कुछ यूँ बदल देता है कि हमारी कलात्मक-भावना को अच्छा लगता है।

वार्त्तालाप द्वारा पात्र-चित्रण अथवा कथानक का निर्माण करने के अतिरिक्त, लेखक शब्दों द्वारा, हमारे हृदयों पर दुखांत, हास्यमय, भयावह, रोमांचक आदि प्रभावों को भी अंकित करता है। किसी लेखक की कला की समीक्षा करने के लिये यह जान लेना भी आवश्यक है, कि वह ऐसा करने की सामर्थ्य कहीं तक रखता है। कई लेखक तो एक सीमित आवेष्टन के भीतर ही काम करते हैं, अर्थात् या तो वे अपनी प्रत्येक रचना में दुखांत का प्रभाव उत्पन्न करते हैं, या सुखांत का, भयावह रस का अथवा रोमांस का। कई मग्न लेखक प्रत्येक प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने में एक जैसे कुशल होते हैं। दूसरे, इन रसों के आगे कितने स्वरूप हैं और प्रत्येक लेखक के बारे में यह जानना भी आवश्यक है कि वह किस सामर्थ्य से और किस दर्जे का रस उत्पन्न करता है। उदाहरणस्वरूप, करुण केवल भयावह प्रभाव भी पैदा कर सकता है, जिससे हमारे शरीर में कंपकंपी छिड़ जाय, और वह आत्मा के स्तरों को झूता हुआ, नैतिक एवं आध्यात्मिक अधोगति का द्योतक भी हो सकता है। हास्यरस केवल हँसी ठठ्ठे के अतिरिक्त सूक्ष्म से सूक्ष्म मधुर प्रभाव वाला भी हो सकता है। साथ ही यह

भी देखना चाहिये कि किसी रस की उत्पत्ति के लिये उपयुक्त साधनों का उपयोग किया गया है या नहीं । उदाहरणस्वरूप किसी प्राकृतिक दुर्बलता, अंग-हीनता अथवा निर्धनता की खिल्ली उड़ाना बहुत भद्दा तथा निम्न स्तर का हास्य होगा । इसी प्रकार करुण के लिये हमारी भावनाओं को अनावश्यक छेड़ना—आवेगपूर्ण, भयावह, तथा हृदय को पीड़ा देने वाले दृश्यों के चित्रण द्वारा—अपनी कला को घटिया बनाना है । छोटे, ओछे अथवा नक़ाल कलाकारों का भावों को स्पंदित करने के लिये, यह एक बहुत सस्ता, सरल साधन है, और यही उनकी कला को घटिया बनाता है ।

हास्यरस हमें मधुरता, प्रीति तथा सहानुभूति द्वारा सुधारे, केवल हँसी-ठट्टे की, बेजोड़ अथवा अनुपयुक्त सामग्री न दे । करुण, हमारी भावनाओं को संयमित करके, अनुकंपा तथा सहानुभूति की प्रेरणा दे, न कि भावों को और उकसावा दे, पाप का, पराजयवादिता का अथवा कठोरता का । करुण का इन अर्थों में प्रयोग कच्चे, अनाड़ी लेखकों ने प्रायः किया है । विशेषतया काम, निर्धनता, रोग तथा मृत्यु को इस प्रकार अंकित किया है कि हमारे अंदर कोई अच्छी भावना उत्पन्न होने की बजाय, भय, त्रास, निराशा तथा प्रमाद उत्पन्न हो जाते हैं जो हमारे बीच में विष घोलते हैं । क्योंकि संसारभर में मनुष्य करुण में से अधिक रस ढूँढ़ते हैं (क्योंकि धरती के अधिक भाग में मनुष्य पूंजीवादी व्यवस्था में बँधा हुआ, नियति, धर्म कर्म, आवागमन में विश्वास रखता हुआ, निराशा की बाढ़ में बहा जाता है) इसलिये इस रस

का अनुचित प्रयोग करने को भावना साधारण कलाकारों में होती है । (भारतीय फ़िल्में इसका प्रमाण हैं) ऐसी कृति के घटिया होने में संदेह के लिये कोई स्थान नहीं रहता ।



हमने ऊपर बयाया है कि कहानी का सम्बन्ध समय तथा स्थान के साथ होता है । इसको तनिक और खोल कर समझने की आवश्यकता है । चाहे उपन्यास मानव-जीवन की रंगारंग सामग्री में अधिक से अधिक रत्न एक स्थान पर इकट्ठे करके, हमें जीवन की बहुरंगी झलक दिखा सकता है, परन्तु एक ही उपन्यास की सीमा में ऐसा कर सकना असंभवप्राय है । कई कलाकारों ने उपन्यासों की एक अटूट लड़ी लिखकर, अपने संपूर्ण सांस्कृतिक इतिहास तथा उसके प्रत्येक पक्ष, उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रभाव तथा परिवर्तन को दर्साया है । परन्तु ऐसा महान प्रयत्न किसी किसी ने ही किया है (जैसे जोला तथा बालज़ाक—फ्रांसोसी में), वर्तमान युग के उपन्यास को रुचि चारों ओर फैलाने के साथ साथ (जिसके द्वारा वह नये संसार के जटिल जीवन के प्रत्येक अंग को अपनी लपेट में ले ले), विषय का अंग-विश्लेषण करने के ओर भी अनंत है । तात्पर्य यह है कि किसी सीमा तक ही प्रत्येक उपन्यास में जीवन को समूचे तौर पर प्रस्तुत किया जाता है, बहुत विस्तार उसमें किसी एक श्रेणी तथा स्थान का होता है । कारखानेदारी, व्यापार, खेती-बाड़ी अथवा कृषि, संभ्रांत तथा निम्न वर्ग, सामुद्रिक अथवा

सैनिक जीवन आदि जीवन के अनेक धंधों, श्रेणियों में से किसी एक को विशेषतया, किसी एक उपन्यास में प्रस्तुत किया जाता है। इसी प्रकार उपन्यास भिन्न-भिन्न स्थानों के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। इसलिये पात्रों से न केवल वार्त्तालाप में ही उनकी उपभाषा बुलायी जाती है, अपितु उस स्थान की विशेष प्राकृतिक 'सैटिंग' तथा वातावरण को भी जड़ा जाता है। हाँ, कई बार किसी एक स्थान के पात्र को आत्म-विरोधी वातावरण में भी ला खड़ा किया जाता है। परन्तु दोनों परिस्थितियों में तथा उसके निजी, घरेलू वातावरण का आपस में अटूट सम्बन्ध होना आवश्यक है। इसलिये किसी ऐसे उपन्यास की परख करते समय, यह जानना आवश्यक है कि उपन्यासकार के विस्तार में कितना सत्य तथा कितनी शक्ति है।

इसी प्रकार ऐतिहासिक उपन्यास में भी प्रमाता के लिये यह ढूँढना आवश्यक है कि लेखक ने कहाँ तक किसी युगविशेष अथवा समय का वर्णन किया है—उसके आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, कपड़े-लत्ते, धर्म-कर्म, राजनैतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक अवस्था, साहित्य, बाह्य तथा भीतरी प्रभाव आदि का। कई अवस्थाओं में इन बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव पात्रचित्रण पर कम पड़ता है, तथा पात्र अपनी किसी निजी दुर्बलता के कारण (जो मनुष्य जाति का भाग बन चुकी है) धीरे धीरे अधोगति की ओर पहुँचता है। कई और परिस्थितियों में बाह्य वातावरण भीतरी प्रवृत्तियों को इस प्रकार बढ़लता, प्रभावित करता है कि 'सैटिंग' पात्रचित्रण का

अभिन्न अंग बन जाती है। कई परिस्थितियों में किसी विशेष युग की विशेषतायें जतलाना ही ऐतिहासिक उपन्यास का मुख्य प्रयोजन होता है। तीनों परिस्थितियों में ही ऐतिहासिक उपन्यास से हमें यह मांग अवश्य करनी चाहिये कि वह अपने दिखाये विशेष युग का वर्णन यथासंभव, अधिक से अधिक यथार्थता तथा वर्णन-शक्ति से करे। इसका अभिप्राय यह नहीं कि आवश्यक अथवा अनावश्यक, प्रत्येक विस्तार को बीच में जोड़ दिया जाय, अपितु यह है कि सामग्री के बहुमुखी ढेर में से एकरंगे कण अलग करके उन्हें किसी इकहरी गोलाई में पिरोया जाय, जिससे कोई व्यतीत युग फिर चेतन होजाय; गाढ़ा, चमकदार हो उभर आये।

उपन्यासकार सामग्री का उपयोग कहाँ तक और किस प्रकार करता है, यह उसकी प्रतिभा पर निर्भर है। कई बार चित्र तूलिका के दो एक स्पर्शों में ही स्पष्ट होजाता है; कई बार प्रभाव को और भी तीखा करने के लिये छोटे से छोटा विस्तार देना पड़ता है। उदाहरणस्वरूप, कई लेखक केवल अपनी रचना सजाने के लिये दिल बहलाने के लिये, अथवा घटनाओं की अपरिवर्तनशीलता या रूखापन तोड़ने के लिये ही रचना में प्रकृति को ले आते हैं। कई और हैं, जो प्रकृति के उतार चढ़ाव को कहानी अथवा पात्र को मोड़ देने के लिये बरतते हैं। जो कुछ प्रकृति में हो रहा होता है, वही पात्रों की अवस्था होती है, वैसे ही कहानी का मुँह मुड़ जाता है। वर्षा, आँधी, बादल, बिजली, पुच्छतलारा, भूकंप आदि किसी शोकमयी घटना के साथ जुड़े प्रतीत होते हैं, मानों घटना

इन प्राकृतिक-प्रकोपों का परिणाम हो अथवा प्रकृति मनुष्य के दुखों में भाग लेने के लिये विह्वल हो । अथवा मनुष्य के दुखों के सामने प्रकृति को बे-परवाही का चित्र खेंचकर, इन्हें और चमकाया जाता है । प्रत्येक अवस्था में कहानी को 'संभावना' की सीमा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये तथा केवल उचित संयोगवश-मिलन का ही प्रयोग करना चाहिये ।

५

उपन्यास-लेखक उपन्यास की रचना क्यों करता है ? उसी ध्येय से, जिसकी आकांक्षा में, बाकी की सारी कलायें जागती हैं—माननीय आदर्शों के नेतृत्व के लिये; मानव को मानवमात्र के निमित्त बाहर भीतर से अनावृत करने के लिये; जीवन को संपूर्ण, गहरा, वैभवशाली, जीने के योग्य बनाने के लिये; जीवन में से वह सब कुछ निकाल फेंकने के लिये जिसका अस्तित्व जीवन को संपूर्ण नहीं बनने देता तथा व्यक्तित्व को विकसित नहीं होने देता, बढ़ने नहीं देता और वह सब कुछ गाने, कइने के लिये, जो अभी तक गाया नहीं गया, कइ नहीं गया है । विज्ञान भी मानवीय आदर्शों का नेतृत्व करता है, नई खोजों द्वारा, प्रकृति के नियत नियम ढूँढ ढूँढ कर, हमारे वहम, भ्रम तोड़ तोड़ कर । विज्ञान की कृपा से जीवन अधिक सुखपूर्ण, अंधविश्वासमुक्त परन्तु नियमित, नैतिक किन्तु भयहीन तथा सामाजिक एवं धार्मिक जटिलताओं से स्वतंत्र होता जाता है । परन्तु विज्ञान की प्रत्येक खोज, हर आये साले

बासी हो जाती है। साहित्य सदा ताजा, कोरे का कोरा, अस्पृष्ट, वैसे का वैसा चमकता रहता है। ऐसा क्यों ? ऐसा इसलिये होता है कि वह मानव के अन्तःकरण की उन भावनाओं, आवेगों दुविधाओं, विवशताओं तथा सामर्थ्य को चित्रित करता है, जो आदि काल से मनुष्य को पैतृक संपत्ति के रूप में मिली है। इसीलिये उपन्यासकार हमेशा सचाई के समीप रहता हुआ भी इतना सामयिक कभी नहीं होता, कि आवेष्टन के परिवर्तन के साथ साहित्य भी बासी हो जाय। समय तथा स्थान का परिधान प्रत्येक कहाने ओढ़ती है, परन्तु उपन्यासकार का अमर संदेश उनमें छिपा नहीं रहता। वह उसके पात्रों के हृदय में होता है, जो कभी पुराने नहीं पड़ते। जैसे कि हमने बताया है उपन्यास का क्षेत्र जितना ही खुला तथा उसका शरीर जितना स्वयन्त्र होगा, उतनी ही अधिक हम उपन्यासकार से जीवन के ज्ञान को आशा रखते हैं। और इस ज्ञान को एक ऐसे कलापूर्ण अस्तित्व में गुँथा देखना चाहते हैं कि नेतृत्व के साथ-साथ हमारी कलात्मक चेतना को रसप्राप्ति हो; हमारा हृदय प्रसन्नतापूर्वक उसे स्वीकार करे, बिना किसी भार का अनुभव किये, बिना कुछ कहे, स्वाभाविक तौर पर। यह उपन्यासकार की सृजन-शक्ति का चमत्कार है कि वह अपने नेतृत्व को, छिपाये रखकर, उसे कला से ढककर, प्रचार का प्रभाव डाले बिना बाँटता चला जाता है। और उसको कला का एक नैतिक अर्थ हाता है। क्योंकि अनादि अनंत प्रतिभा के बिना कोई साहित्यकार साहित्य-रचना में सफल मनोरथ नहीं हो सकता, और यदि सफल

हो जाता है तो उसका जीवन को देखने, परखने का कोई निजी भुकाव होता है। वह कहे या न कहे, उसका यह भुकाव उसकी रचना में से भरता रहता है। यह कैसे हो सकता है कि उपन्यासकार, अमर प्रतिभाशाली सजीव प्राणी भी हो, वह और मनुष्यों का वर्णन भी करे, उसका विस्तार भी करे, यह सब कुछ करे भी रसदान के लिये और उसमें केवल वर्णन-मात्र ही हो, केवल विस्तार, भीतर बाहर का, बिना किसी भीतरी धुरे के, जिम्मे चारों और वह सारा विस्तार घूमता है।

यह तो सभी प्रमाता स्वीकार करते हैं (वे भी जो यह कहते हैं कि साहित्य का ध्येय प्रचार नहीं, कलात्मक आनन्द देना है तथा वे भी जो इसके प्रतिकूल प्रचार को कला का लक्ष्य मानते हैं) कि प्रत्येक कलापूर्ण रचना हमें सौन्दर्यबोध कराये, हमारी कलात्मक चेतना को स्पंदित करे, प्रेरित करे, उसे चमका दे। तो कलात्मक अभिरुचि क्या है ? हमारी सौन्दर्यप्राहिणी शक्ति का विकास में आना। सुन्दर कौन है ? कई कहते हैं, कि सुन्दर वह है जो हृदय को नचाये, नयनों को छकाये। कई औरों के मत में सुन्दर वह है, जो हमारे लिये उपयोगी हो, हमारे तर्क की सहायक हो। सदा, सर्वदा से सौन्दर्य के ये दोनों उपासक अपने अपने दृष्टिकोण का प्रचार करते आये हैं। पहली श्रेणी में प्रायः परश्रम-जीवी, धनिक संतान, रोमांचक रमणीयताओं के प्रेमी, तात्कालिक आनन्द के इच्छुक, प्रेमी प्रकृति के लोग हैं, इनकी संख्या प्रत्येक समाज में आटे में नमक के बराबर है। दूसरी श्रेणी में कामगार, दार्शनिक,

वैज्ञानिक, ज्ञानी, विचारवान पुरुष हैं। और जो कोई भी कलाकार कभी अमर साहित्यकार के रूप में यशोभागी हुआ है, उसे सदा दूसरी श्रेणी में गिना गया है। शेक्सपीयर हो या बर्नार्ड शा, तोल्स्तोय हो अथवा रविठाकुर, गेटे हो या पर्ल बक, कौनसा ऐसा पाठक है, जो इन्हें कवल अभिरुचि के लिए पढ़ता है तथा आदर-पूर्वक, नेतृत्व की प्रेरणा नहीं मांगता ? यह उनकी रचनात्मक शक्ति का चमत्कार है कि वे हमें कड़वे नहीं लगते, हमें अधीर नहीं कर देते, अनावश्यक भंभोड़ते नहीं, उपदेश नहीं देते; हमारे मलिन अंतःकरण को स्वरताल में, रसाप्लावित करके, शब्दों को चुन चुन कर, उन्हें छील छील, मांज मांज कर हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं और जब हूबहू चित्र भी अंकित करते हैं तो ऐसे संयम, नियम तथा क्रमपूर्वक, कि कुरूपता, पाप, स्वार्थपरता का प्रभाव हृदय पर नहीं पड़ता, अपितु भलाई, उपयोगिता, बलिदान, सर्वसामान्यता के विचारों से हम प्रेरित हो उठते हैं।

उपन्यासकार यह नेतृत्व सीधा अपनी ओर से भी कभी कभी टीका-टिप्पणी द्वारा दे सकता है, अपने पात्रों के द्वारा भी। दोनों प्रकार इकट्ठे भी। और यह कला का कोई ऐसा छल है कि कड़वो से कड़वो, कठिन से कठिन बात भी हम साहित्य के मिस सुन, सह सकते हैं। “यह तो केवल कहानी है, कोई सच्ची बात थोड़े है।” और इस भ्रम के नीचे हम सब कुछ सुन लेते हैं, स्वीकार कर लेते हैं। यह अधिकार तथा स्वतन्त्रता (जो विज्ञान, दर्शन, धर्म, इतिहास आदि नहीं ले सकते) ही कलाकार के लिये स्वर्ण

अवसर होता है, वह सब कुछ कहने का जो और कोई नहीं कह सकता तथा जिसे मनुष्यमात्र चाहता है कि कोई कहे। जो कहेगा और रस भी देगा, वह अमर हो जायगा; जो कहेगा नहीं, केवल रस ही देगा, वह जीवन को आगे नहीं चलायेगा, वह जीवन को केवल एक भ्रम, निद्रा, छल का दान देगा तथा थोड़ी देर बाद भुला दिया जायगा ।

केवल जो प्रत्यक्ष है, उसी को चित्रित कर देना, (जैसे यथार्थवादी उपन्यास करता है) या उसे, जो नहीं दिखाता, अथवा उसे जो व्यतीत हो चुका है, अथवा उसे जो होना ही नहीं और हमारी पकड़ में कभी आयेगा नहीं (जैसे रोमांचक उपन्यास में किया जाता है), या उसे जो कभी था, परंतु अब नहीं और जो भविष्य में संभव नहीं, (जैसे ऐतिहासिक उपन्यास में होता है)—ये ही तीन मुख्य प्रणालियाँ हैं उपन्यास की—सफल उपन्यासकार के गुण नहीं। वह प्रत्यक्ष को अंकित करता है परंतु केवल ऐसी विधि से नहीं कि वह दिखाई देने लग पड़ता है, अपितु इस प्रकार कि वह दिखाई दे सकता है। इसी प्रकार वास्तविक यथार्थवादी उपन्यास केवल गंदगी, भूठ, तथा बुराई को उसके ऐसे वास्तविक रूप में चित्रित नहीं करता कि जीवन से घृणा हो जाय, अपितु इस प्रकार कि उन्हें दूर करने की प्रबल कामना हृदय में जाग उठे, और जीवन को एक नयी गतिविधि, क्रम, परिवर्तन देने को भावना अंदर से उठे। विस्तार की केवल वैज्ञानिक सचाई पर इस तरह जोर देना कला का नाश करना है। गरटे ने ठीक कहा है:—

“कलाकार का कार्य वास्तविक है, क्योंकि वह सदा सत्य होता है, आदर्शरूप है, क्योंकि वह कभी सामयिक नहीं होता।” इसी प्रकार रोमांचक उपन्यास भी वही सार्थक है, जो कान्यमय-सत्य की सीमा के अंदर रहता है। ऐतिहासिक उपन्यास भी केवल हो चुके को अंगीकार करने की प्रेरणा न दे, अपितु पिछली अच्छी बातों को पुनर्जीवित करने तथा बुरी बातों को नष्ट करने का उत्साह दे। यह नहीं कि उपन्यासकार वास्तविकता को छिपा कर ऐसा करता है, अथवा केवल एकपक्षी वास्तविकता का दर्शन कराता है। वह तो चित्र के दोनों पक्षों का सीधा और उल्टा—वर्णन करके, अपने व्यक्तित्व का सारा भार उस ओर डाल देता है, जो अच्छाई तथा उत्तमता के लिये प्रेरित करे तथा बुराई और कुरूपता के प्रति घृणा उपजाये।

इसलिये उपन्यास केवल वर्णन नहीं करता, अपितु कुछ उत्पन्न करता है; शिथिलता का संचार करता, मारता हुआ, भ्रांति में डालता हुआ नहीं, अपितु जीवित करता हुआ, समस्याओं का समाधान करता हुआ, आगे बढ़ने के लिये उत्साहित करता हुआ, जीवन को अधिक सार्थकता, गहराई, वैभव, नियमितता, संयम प्रदान करता हुआ, माननीय आदर्शों का नेतृत्व करता है।

६

इसलिये एक अच्छे उपन्यास के निम्नलिखित अंग होते हैं:—
कहानी (जो अपने संपूर्ण विस्तार में उत्सुकता जगा सके),

कथानक (जो उस कहानी को कोई विश्लेषणात्मक रूप प्रदान करे, उसके ढीले जोड़ कस दे, उसमें से किसी एक विशेष प्रभाव को उभारे, तथा कहानी को मान्य बनाने के लिये अपनी संपूर्ण कला का उपयोग करे), पात्र-चित्रण (जो पात्रों के भीतरी हाव-भावों वातावरण के कारण होने वाले परिवर्तनों, दुविधाओं, समस्याओं आदि को सहज-स्वभाव, परन्तु धीरे धीरे दर्साये, गाढ़ा करे, बिगाड़ दे अथवा सुलभावे), कथोपकथन (जिन द्वारा पात्र-चित्रण तथा कहानी दोनों का आनन्द और भी तीखा होकर चमके, तथा उन्हें न केवल स्वाभाविक रूप तथा एक विशेष स्थान तथा उपभाषा प्राप्त हो, अपितु समस्याओं की उत्पत्ति अथवा समाधान की एक कलापूर्ण भ्रांति कलाकार को मिल जाय), दृश्यों का वर्णन (जो हमारे नयनों को परितृप्ति दे, अनुभूति को प्रेरित करे, अथवा कहानी के उतार चढ़ाव को और गहरा करे अथवा उस पर कोई टिप्पणी करे), तथा एक कोई निजी मत, मूल-विचार अथवा जीवन को देखने का, परखने का अपना दृष्टिकोण (जिसके केन्द्र के चारों ओर उपन्यास के बाकी सब अंग घूँमे, समूची रचना किसी एक प्रभाव में जागे तथा मानवीय आदर्शों का नेतृत्व हो ।)

परन्तु जैसे ऊपर बताया जा चुका है उपन्यास किसी एक रूप का ही नहीं होता । एक एक रूप के आगे कई स्वरूप होते हैं, और प्रत्येक स्वरूप के नियम काफी हद तक पृथक् हैं और यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक अंग अथवा स्वरूप में उपरिलिखित

गुण समान अनुपात में हों, अपितु बहुधा किसी एकध की कमी अथवा अधिकता उस ही उपन्यास को उसका विशेष विश्लेषणात्मक रूप प्रदान करती है ।

प्रायः उपन्यास के तीन रूप अधिक प्रसिद्ध हैं:—

- १) रोमांचक २) यथार्थवादी ३) ऐतिहासिक

रोमांचक उपन्यास को घटनावादी उपन्यास भी कहा जाता है । इसमें अधिक जोर पात्र-निर्माण पर नहीं होता, अपितु घटनाओं की असाधारणता तथा अद्भुतता पर होता है । घटना जितनी अनूठी, अतिशयोक्तिपूर्ण, नाटकीय परिस्थितियों से पूर्ण, उत्सुकता से भरी हुई, निर्बाध विचरती हुई, शारीरिक संघर्ष तथा वासना से पूर्ण, अलौकिक प्रभावशालिनी, जादू, टोने तथा चमत्कार और नियति एवं संयोग-मिलन आदि के प्रभावों द्वारा आश्चर्यचकित करती, हमें अद्भुतता तथा विस्मय की ओर ले जाती हुई, हमारी अनुभूतियों को चमकाती है, उतनी ही वह रोमांचक है । इस प्रकार के उपन्यास में किसी पात्र के मानसिक हाव-भाव का चित्रण, अथवा अवसर के प्रभाव द्वारा उसे निर्मित करना, बदलना विल्कुल निरर्थक है । पात्र घड़े घड़ाये आते हैं । उनका स्वभाव गतिशील, सीधा साधा एक समान होता है । वे पात्रों की अपेक्षा पात्र-रूपों को दृढ़ करते, आलोकित करते हैं । हां, अवसर पल-पल में बदलते हैं, स्थान और समय लट्ठ की तरह व्यतीत होता है, और पात्र हर किसी चामत्कारिक शक्ति अथवा नियति द्वारा सदा प्रभाव जमाता दिखाई देता है । इसी-

लिये पात्र की प्रवृत्ति में परिवर्तन नहीं होता, वह सदा उसी वीरता, हास्यरस अथवा प्रेमोत्साह में विभोर दिखाई देता है। इन उपन्यासों की कहानी बड़ी रोचक होती है और हम एक सांस में, आनंद के नशे में चूर उसे पढ़ते चले जाते हैं, असम्भव सम्भव हो जाता है क्योंकि ऐसे उपन्यासों को हम अपनी तर्कशक्ति तथा विश्वास को ताक पर रख कर पढ़ते हैं और उपन्यासकार ऐसी कला द्वारा अपनी कहानी के आवरण उतारता है कि सब किसी का कोई कारण प्रकट हो जाता है, कारण, चाहे साधारण अवस्था में मान्य न भी हो। इसमें जीवन के बारे में दृष्टिकोण के लिये कोई स्थान नहीं होता, व्यवस्था तथा एकता चाहे इसमें घटनाओं की लड़ी को (एक में से दूसरी उत्पन्न होने वाली) कायम रखती है। इस कहानी का मूल-विषय, सिवाय इसके कुछ नहीं होता कि एक विशेष प्रकार के धार्मिक, युद्धप्रेमी, प्रेमपुजारी अथवा न्याय-रत पात्र को घटनाओं में ला खड़ा किया जाता है, परंतु पात्र में कोई ऐसा बड़प्पन अथवा रस होता है (प्रायः संसार के परे का, निजी अनुभव के प्रतिकूल अथवा बहुत अधिक) कि प्रत्येक घटना उसके प्रहारों के आगे झुकती है।

हिन्दी में इस प्रकार के उपन्यास चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्तासंतति, भूतनाथ आदि हैं। कई अनूदित उपन्यास भी इस प्रकार के हैं। इन अनूदित उपन्यासों में तो केवल रोमांचक, अनोखी घटनायें हैं, परन्तु मौलिक उपन्यासों का शरीर जहाँ रोमांचवादी है, वहाँ आशय सामाजिक सुधार या नेतृत्व का है, चाहे वह नेतृत्व आदर्श

आचरण को दृष्टांत स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत करके या बुराई को अत्यधिक गाढ़े काले रंग में रंग कर अतिशयोक्ति द्वारा (पात्र-चित्रण द्वारा नहीं) उसके प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिये की जाता है । इस प्रकार रोमांचक उपन्यास, एक असंभव अतिशयोक्ति (Fantasy) से लेकर आदर्शवाद (Idealism) तक जा सकता है । और उसमें जहाँ पात्रचित्रण को कम स्थान मिलता है, वहाँ कलात्मक विन्यास भी कम होता है और कथानक के कई जोड़ ढोले रह जाते हैं और हम हक्के-बक्के आँखें फाड़ कर देखते रह जाते हैं कि अमुक घटना कैसे संभव हुई ? परन्तु जैसे बताया जा चुका है, अविश्वसनीयता ऐसे उपन्यासों में विवर्जित है । सब किसी पर विश्वास करना पड़ता है । चूले चाहे ढीली हों, परन्तु घटनाओं को बंधी लड़ी सारी सामग्री को एक एकता जैसी दे जाती है । भावनात्मक (sentimental) उपन्यास, तथा अपराधों के उपन्यास भी इसी श्रेणी के अन्तर्भुक्त हैं ।

यथार्थवादी उपन्यास, इसके उलट पात्रनिर्माण पर अधिक जोर देता है । यह भी कई प्रकार का हो सकता है, सामाजिक उपन्यास (Sociological, problem, propaganda) से लेकर मनोविज्ञान-विषयक (Psychological), प्रभाववादी (Impressionistic) तक ।

सामाजिक उपन्यास की अवस्था में इसका विषय समाजसुधार का होता है, पात्र किसी सामाजिक बुराई के साथ टकराते हैं तथा अपनी बुद्धि अथवा बल द्वारा उसको बदल लेते या उसके

साथ टकरा कर चूर चूर हो जाते हैं, परन्तु इतनी शक्ति तथा शोभा के साथ कि पढ़ने से हृदय में उत्साह पैदा हो जाता है, पाप को पराजित करने का; पराजयवादी भाव हृदय में नहीं जागते । यहाँ एक पात्र समाज होता है, जिसके आकार, विस्तार, पकड़, आंतरिक भुकाव आदि को रूपमान किया गया होता है, इतनी ईमानदारी तथा सचाई के साथ कि समाज हमें एक सजीव, जागता, अस्थि-मांस के देश का कोई व्यक्ति प्रतीत होता है । ऐसे पात्र के साथ दूसरे, वस्तुतः सजीव पात्र का मिलन होता है । पहला पात्र अपनी लंबाई, चौड़ाई, आकार प्रकार में देवदानव की भाँति खड़ा है । दूसरा धरती का एक अचिरस्थायी प्राणी, परिवर्तनशील मानसिक तर्क की सूझ में फँसा हुआ, अच्छे बुरे का निर्णय करता हुआ, अपने घटिया बल का ज्ञाता, गिरता उठता रहता है । परन्तु एक ऐसी मानसिक उत्तमता उसमें है, जो पहले में नहीं । यही उसके दुख, सुख दोनों का कारण है, उसे समाज के साथ समझौता नहीं करने देती, उसमें मानसिक अशांति, एक समस्या जैसी, उत्पन्न होती है, जो धीरे धीरे और जटिल होती जाती है, जैसे जैसे वह उसकी भीतरी गोंठें खोलना चाहता है । इसी कारण वह प्रतियोगिता की चुनौती समाज को देता है । कई लेखक इस संघर्ष के ठोस महत्त्व को चित्रित करते हुए बस कर देते हैं, बिना यह सुझाये कि उसका अंत कहाँ हुआ । कई और उसे “नियति प्रबल है” के प्रभाव के नीचे नचा नचा कर, थका थका कर मार डालते हैं, निराशावाद का प्रभाव अंकित करते जाते हैं । इन दोनों अवस्थाओं में यथार्थवादी

उपन्यास मानसिक, प्रभाववादी प्रकार का होता है। कई और उसे समाज पर हावी करके, अंत में 'ब्याह की शइनाई' बजा देते, अथवा आवश्यक सुधार द्वारा सुखांत में कहानी की इतिश्री करते हैं। यह सामाजिक उपन्यास का ढंग है।

इस प्रकार यथार्थवादी उपन्यास की जड़ कोई मानसिक समस्या है, जो पात्र की किसी निजी न्यूनता, वड़प्पन के विचार, अथवा समाज के एक-पक्षीय भुकाव की परिस्थिति से उत्पन्न होता है, जितनी यह मानसिक समस्या तीक्ष्ण-गहरी, रंगा-रंग की होगी, उतनी ही अधिक रस देगी। यह समस्या धीरे-धीरे उत्पन्न होती है। कुछ परिस्थितियों की टक्कर द्वारा धीरे-धीरे बदलती है, अथवा और भी जटिल होती या खुलती जाती है। यही-पात्र चित्रण है। सामाजिक उपन्यास किसी सामाजिक घटना अथवा प्रश्न के साथ अधिक संबंध रखते हैं, पात्र-चित्रण के साथ नहीं, तथा भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के लिये उनका आकर्षण, ऐतिहासिक जैसा ही रह जाता है, परन्तु मानसिक उपन्यास किसी समस्या पर जोर देते, कहानी के प्रवाह अथवा स्वाभाविकता अथवा विकास या विन्यास की ओर कई बार ध्यान नहीं देते। प्रभाववादी उपन्यासकार बातें इंगितों, संकेतों में करते, इस समस्या को एक सदास्थायी प्रभाव जैसा बनाकर हमारे हृदयों पर अंकित करते हैं। उद्देश्य दोनों का अधिक से अधिक यथार्थवादी प्रभाव उत्पन्न कर मनुष्य के अन्तः-करण के हमें खुले दर्शन कराना है, कौन कौन सी अच्छाईयों

बुराइयों से वह कब कब और किस प्रकार प्रभावित होता है और क्यों ?

इस लिये ऐसे उपन्यासों में कड़ानी केवल उसी सीमा तक होती है, जहाँ तक उससे पात्र-चित्रण तीखा हो जाय । कोई घटना अकारण नहीं होती । वह पात्रों पर अपना बुरा या भला प्रभाव अंकित करती है अथवा पात्रों से प्रभावित होती है । इस प्रकार के उपन्यासों का उद्देश्य गल्प-रस की उत्पत्ति करना नहीं होता और न घटना को घटना के रूप में रसदायिनी बनाने का होता है, अपितु पात्रों को उनके भीतरी तथा घटनाओं के प्रभाव के प्रकाश में परखना होता है कि वे किस प्रकार के हैं ? ऐसी रचना का दार्शनिक होना स्वाभाविक है, साथ में घटनाओं का कम होना, वार्त्तालाप का समीचीन, वाणफल्क-सदृश प्रयोग भी । यह किसी एक महान्, प्रबल प्रभाव को भी चित्रित करती है, जो रचना का मूल-विचार होती है । हिंदी में सामाजिक उपन्यासों में सब से अधिक नाम प्रेमचंद के उपन्यासों का है ।

यथार्थवादी उपन्यास, इस प्रकार भौति भौति का हो सकता है । सामाजिक उपन्यास, जिसमें किसी विशेष युग की आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थिति का प्रभाव मानव प्रकृति पर अंकित किया गया हो, विषय में सीमित, इसका ध्येय सौन्दर्यबोध कराने से भिन्न होता है । इसी लिये यह रस तथा क्षेत्र में सामाजिक तथा आगामी काल के लिये केवल ऐतिहासिक महत्त्व रखता है । समस्यात्मक उपन्यास, जिसमें समाज की किसी एक अङ्गुली,

जैसे व्रतछात, तलाक, वेश्यागमन. विधवा-विवाह आदि पर व्यंग्य होता है। प्रचारात्मक उपन्यास में किसी एक जाति अथवा श्रेणी को दूसरी उत्तम से सिद्ध करने की भावना होती है।

कई बार उपन्यासकार (जैसे फ्राँस का ऐमिल ज़ोला) यथाथ-बाद को उसकी अंतिम सीमा तक पहुँचा देते हैं। क्या पदार्थों का, क्या दृश्यों का, क्या पात्रों के शारीरिक आकार-प्रकार, उनके हाव-भाव का, क्या समाज की रमणीयता का, स्वल्पतम, सूक्ष्म, प्रत्यक्ष विस्तार, सूईकारी जैसा, मशीनी जैसा, जैसे अणुवीक्षक यंत्र द्वारा देखा गया हो। इसे प्राकृतिकवादी (Naturalistic) रंग कहा जाता है। इस प्रकार के ढंग में लक्ष्य की एकता का लोप हो जाता है। अब इस ढंग को लगभग त्याग दिया गया है तथा उपन्यासकार जीवन के विस्तार तथा बहुमुखी रमणीयता को एक ही उपन्यास में दर्साने की अपेक्षा, जीवन का कोई एक खंड चुनते हैं और केवल उतना ही विस्तार किसी वस्तु का किया जाता है, जितना उस विशेष खंड को चमकाने के लिये आवश्यक समझा जाय।

विस्तृत, बहिर्मुखी चित्रण से आगे चल कर उपन्यासकार प्रभाववाद के रंग को उजागर करते हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष, अर्धचेतन, अंतरात्मा को हमारे सामने निखार निखार कर रखते हैं। अंदर तथा बाहर का आपसी संघर्ष, मानसिक समस्यायें, अदृश्य की प्रत्यक्ष पर टीका-टिप्पणी, आदि जो बढ़ती बढ़ती प्रतीकवाद (Symbolism) में जा समाप्त होती हैं, संकेतों, चिन्हों

टिप्पणियों, रहस्यों आदि द्वारा, भ्रम उत्पन्न करके, किसी आदर्श को हमारे सामने (एक रहस्य के प्रभाव में रंगी, अर्धदृष्ट, अर्धादृष्ट, परन्तु व्यंजनात्मक, तीक्ष्ण आदर्शवादी प्रभाव में लपेटती हुई) रूपमान करती है ।

ऐतिहासिक उपन्यास में पात्र, सैटिंग तथा घटनायें पृष्ठभूमि में से लिये जाते हैं । इसमें या तो किसी महान व्यक्ति, अथवा किसी देश की समूची संस्कृति या किसी एक युग को प्रकाशित किया जाता है । इसका कथानक प्रायः ढीला, कई घटनाओं का बेजोड़ संग्रह जैसा प्रतीत होता है । एक धार्मिक प्रभाव में रंगा हुआ, कुछ रहस्यवादी जैसा, एक ऐसी नियति का अभिव्यंजन जिसे हम जान नहीं सकते । जगती की अभिव्यक्ति ऐतिहासिक उपन्यास में यथाशक्ति की जाती है; पात्र चलते फिरते, क्रियाशील होते हैं । घटनायें सजीव होती हैं । परन्तु नियति अथवा दैवी आदेश का एक रहस्यपूर्ण प्रभाव मानों हमारे हृदय पर अंकित करना इसका कर्तव्य होता है । पात्र-चित्रण की ओर इसका ध्यान बिल्कुल नहीं होता, इसके प्रतिकूल, किसी के गुण अथवा बड़प्पन को गाढ़ा करना, पृष्ठभूमि को रोमांस में रंगना, एक अवर्णनीय, पारदर्शी जैसा प्रभाव उत्पन्न करना होता है ।

ऐतिहासिक उपन्यास तीन प्रकार का हो सकता है:—

- (१) युग-उपन्यास—जिसमें हो चुके समाज को, एक ऐतिहासिक खोज करने वाले वैज्ञानिक के दृष्टिकोण द्वारा प्रकट किया जाता

है। इसमें उस समाज के पात्र केवल निदर्शक होते हैं, सजीव मनुष्य नहीं, केवल चलती फिरती परछाँहियाँ।

《२》 ऐतिहासिक रोमांस—जिसमें वर्तमान युग को धैर्य नाश करने वाली गतिहीनता तथा जटिल जीवन से मुक्ति प्राप्त करने के लिये, प्राचीन ऐतिहासिक व्यक्तियों, राजाओं, रानियों, तथा युद्ध-प्रेमी वीरों के कारनामों का वर्णन किया जाता है। इस प्रकार की रचनाओं में भी पात्र-चित्रण पर उतना जोर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि पात्रों के ऐतिहासिक व्यक्तित्व से परे जाना लेखक के लिये संभव नहीं होता। घटनाओं की प्राचीनता तथा अनूठापन, फैलाव तथा परिणाम ही उपन्यास का ताना बनते हैं।

《३》 वस्तुतः ऐतिहासिक उपन्यास—जिसमें प्रत्यक्ष से मुँह मोड़ने के लिये नहीं, अपितु उसकी सचाई को और तीखा तथा गहरा करने के लिये भावना का ज्वलंत आलोक दिखाया जाता है। पृष्ठभूमि को यूँ दर्साया जाता है कि वर्तमान के साथ उसका संबंध स्पष्ट हो जाता है।

प्राचीन इतिहास की रंगारंग, प्रचुर सामग्री में से कुछ विशेष अंग पृथक् कर लिये जाते हैं, बाकी रह कर दिये जाते हैं। क्योंकि यथार्थ ऐतिहासिक रुचि वाला लेखक वर्तमान पर भूतकाल को अधिमान्य नहीं कर सकता, इसलिये बहुत दूर के प्राचीन समय को वह चित्रित नहीं करता, न ही वह महान ऐतिहासिक व्यक्तियों को अपना पात्र बनाता है। बहुधा, उपन्यास की पृष्ठभूमि मुश्किल

से एक पीढ़ी पीछे की होती है (जैसे तोल्स्तोय के उपन्यास, युद्ध और शान्ति की), इसलिये अपने ही बचपन के युग को उपन्यासकार इसमें चित्रित करता दिखाई देता है । इसमें पात्र-चित्रण के लिये पर्याप्त अवसर होता है ।

आकार के विचार से उपन्यास दो प्रकार का हो सकता है, जो कई बार एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते । एक वृत्तांतात्मक, विस्तृत, महाकाव्य तथा दूसरा नाटकीय । पहला कथानक में शिथिल होता है तथा किसी एक विषय को अपना केन्द्र नहीं बनाता । पात्रों की इसमें भरमार होती है, परन्तु पात्रों का आचरण-चित्रण नहीं किया जाता । वे यहां रूप-मात्र होते हैं, न कि विशेष व्यक्ति । कोई एक व्यक्ति हमारा ध्यान आकर्षित नहीं करता । उपन्यास का अंत भी स्वाभाविक, प्राकृतिक, विकासोन्मुख अथवा होनहार नहीं होता । जैसे हो रुके, समाप्त करने का प्रयत्न किया जाता है, चाहे हम जानते हैं कि उपन्यास और भी आगे जा सकता था । उपन्यास की घटनायें, किसी सीमा तक ही एक दूसरी में से निकलती दिखाई देती हैं, अथवा पात्रों के स्वभाव, प्रवृत्ति अथवा परिस्थितियों के साथ जुड़े मिलते हैं ॥

नाटकीय उपन्यास में, इसके प्रतिकूल, घटना तथा पात्र-चित्रण का ऐसा समीचीन तालमेल होता है कि एक, दूसरे के बिना जीवित नहीं रह सकता । घटना पात्र-चित्रण पर तीव्र प्रभाव डालती हैं, पात्र घटनाओं की दिशा को बदलते हैं । विन्यास की परिपक्वता इस का एक प्रधान गुण है । इसका क्षेत्र छोटा, जीवन की किसी एक

समस्या के बारे में होता है। महाकाव्यात्मक उपन्यास (Epic Novel) का कथानक विस्तारशील, फैला हुआ होता है; नाटकीय उपन्यास का संक्षिप्त, तीव्र, संयमित। पहले का आघात किसी एक अकेले व्यक्ति (पात्र) द्वारा प्रारम्भ होता है और धीरे धीरे एक आवेष्टन की ओर बढ़ता फैलता है, जो मानों समाज का ही प्रतिबिम्ब होता है। दूसरे का आघात दो अथवा इससे अधिक पात्रों से प्रारम्भ होता है, आवेष्टन के कई बिन्दुओं से प्रारम्भ होकर भीतरी केन्द्र की ओर मुड़ता है, जहाँ सभी बिन्दु आकर आपस में मिल जाते हैं तथा समस्या का समाधान होता है। पहले में 'सैटिंग' बदलती रहती है जिसके कारण पात्रों के आचरण का विस्तार बढ़ होता है। दूसरे में सैटिंग बदलती नहीं, पात्र अपने अन्दर से ही जीवन के बहुविध अनुभव को अभिव्यक्त करते हैं। ऐपिक उपन्यास, समय में सीमित परन्तु स्थान के बंधन से मुक्त होता है, नाटकीय उपन्यास स्थान में सीमित, समय में अधिक स्वतंत्रता लेता है। नाटकीय उपन्यासों में घटनाओं की लड़ी बड़ी संबद्ध, गुँथी हुई होती है, पात्र ठीक उस समय प्रकट होते, कुछ कहते, करते हैं, जब वे ऐसा करने पर बाध्य हो जायें। उसमें भावी बलवती होती दिखाई देती, अनुभूत होती है। ऐपिक उपन्यास में घटनाओं की स्वाभाविकता अथवा भावी के आगे विवशता की अपेक्षा, मानसिक प्रवृत्तियों की स्वाभाविकता तथा उनके सम्मुख विवशता पर जोर दिया जाता है।

इसी प्रकार नाटकीय उपन्यास, नाटक के अत्यंत निकटवर्ती।

होता है। इसमें नाटक की भांति घनिष्ठता, नियमित गति, आदर्श, कथानक तथा पात्रचित्रण का समीचीन गठजोड़, समस्या की उत्पत्ति, उसका जटिल होना, तथा धीरे धीरे उसका समाधान, किसी एक विशेष प्रभाव का अति तीव्र होकर उभरना, शैली का संकोच, स्वभावों की तुलना, सब कुछ किसी नाटक की तरह होता है।

इसलिये उपन्यास के प्रत्येक स्वरूप से एक जैसे मानदंड की आशा अनुचित है। चाहे इस समय प्रायः स्वीकार किया जाता है कि पात्र-चित्रण वाला उपन्यास इस कला का सब से श्रेष्ठ अंग है, परन्तु हमारा निश्चय है कि यह मानदंड भी पूँजीवादी युग का मानदंड है, जो जीवन के प्रत्येक पक्ष में जनसाधारण की अपेक्षा, व्यक्तिगत के निजी उतार चढ़ाव पर अधिक जोर देता है। आगामी काल में, हमारा मत है कि सोवियत देशों के उपन्यासों की भांति इक्के-दुक्के या दो चार पात्रों के चित्रण की अपेक्षा, समूची जनता किसी उपन्यास की पात्र हुआ करेगी, जिसके जीवन-संघर्ष तथा प्रश्नों, विशेषताओं तथा न्यूनताओं को चित्रित करता हुआ उपन्यास किसी ऐसी महान व्यथा के गीत गायेगा कि उससे समूची जाति की गतिविधि की दिशा बदल जाया करेगी तथा संपूर्ण जीवन को धरती और आकाश पर, एक प्रेरणा प्राप्त होगी।

४

नाटक की कहानी

१

“कहानी”, “कथानक”, “पात्र-चित्रण”, “वार्त्तालाप”, “सैटिंग”, “जीवन दृष्टिकोण”, जिनका वर्णन हमने उपन्यास के विशेष अंगों के रूप में किया है, नाटक के लिये भी उतने ही आवश्यक हैं। परन्तु यह समानता नाटक को उपन्यास नहीं बनाती। क्योंकि नाटक एक पृथक् कला है। उसकी अपनी सोमाँ, परिमितताएँ, विशेषताएँ, हैं, जो इसे उपन्यास तथा कलित-ललाओं के और प्रत्येक अंग से पृथक् करती है।

उदाहरण के लिये उपन्यास पढ़ा जाता है, परन्तु नाटक खेला जाता है, जीवन को इसी लिये धार्मिक भाषा में “लीला” “खेल” “चरित्र” पुकारा गया है, क्योंकि इसमें नाटक के पात्रों की तरह मनुष्य धरती की रंगभूमि पर आता, कौतुक करता और समाप्त हो जाता है; जैसे क्रियाशील जीवन में, वैसे ही नाटक में भी सब कुछ हम प्रत्यक्ष देखते, कानों से सुनते हैं; बहुत बार किसी के स्पष्ट दिख रहे, बोलते नेतृत्व से प्रभावित होते हैं। न केवल उसके आघातों से, अपितु उसके हाव-भाव, रूप-रेखा, आकार-

प्रकार, आलाप स्वर आदि से भी । और कई बार ऐसा होता है कि विन बोले, विन कहे हम किसी महापुरुष के व्यक्तिगत स्पर्श अथवा दर्शन द्वारा इतने रसाप्लावित, जीवन-विभोर हो उठते हैं कि “गिरा अनयन, नयन विनु बाणी” । मूर्तिकला, चित्रकला अथवा प्रकृति की किसी रमणीय भलक से भी इसी प्रकार हम कई बार प्रभावित होते हैं, जैसे राग के किसी थिरकते सुर द्वारा, जिसमें कोई शब्द न गाये गये हों अथवा जैसे घुंघरू ठुमकाते पैरों की “ता ता थैय्या” द्वारा । नाटक इसी लिये राग, नृत्य, चित्रकला तथा समीचीन, सजीव पात्रों के चुनाव पर इतना ही जोर देता है, जितना उस भाषा पर जो पात्रों के मुँह बुलाई जाती है, क्योंकि यह एक दृष्टिकला भी है, केवल शब्दकला नहीं । परन्तु मूर्तिकला अथवा चित्रकला की भाँति यह केवल दृष्टिकला ही नहीं है । इसकी अभिव्यक्ति आघातों तथा कथोकथन द्वारा होती है । इसी लिये इसको शब्दकलाओं में भी गिना गया है । परन्तु यदि नाटक अपने दर्शनीय पहलू में असफल रहे तो उसका नाट्यसाहित्य में कोई स्थान नहीं ।

यही कारण है कि हम किसी युग के नाटक की परख करते समय सर्वप्रथम उस समय के रंग-मंच की अवस्था, लौकिक संस्कृति के स्तर तथा नाटक के एक दृष्टिकला होने के कारण उसकी विशेष परिमितताओं के बारे में विशेष तौर पर जानना चाहते हैं ।

प्राचीन यूनानी रंगमंच की परख करते समय जब हमें यह पता चलता है कि उसके दर्शकों की संख्या तीस हजार से ऊपर

होती थी (प्लैटो ने यह संख्या तीस हजार बताई है, नई खोज यह संख्या सत्रह हजार बताती है); कि उसका नीचा रंगभंच, जिसपर पात्र अपना सारा खेल प्रस्तुत करते थे, दर्शकों से काफी दूर होता था, कि पात्रों को अपने से बहुत बड़े आकार के देव-दानव दिखाने के लिये उन जैसे प्रचलित किरीट मुकुट, शस्त्र वस्त्र, ऊँचे जूते आदि पहनने पड़ते थे तो हमें भट पता चल जाता है कि क्यों इन परिस्थितियों में पात्रों के स्वतंत्र तथा तात्कालिक आघात असम्भव थे, पात्रों का विश्लेषणात्मक चित्रण अनहोना था । लौकिक, भावपूर्ण, तीक्ष्ण वार्त्तालाप की अपेक्षा पात्रों को कृत्रिम, काव्यमय व्याख्यान देने पड़ते थे; पात्रों को धीमी, नियमित चाल से चलना, बोलना, काम करना पड़ता था एवं सूक्ष्म हाव-भाव अथवा तेज गतिविधि की मनाही थी । पात्र सदा किसी एक भाव विचार, विशेषता के द्योतक होते थे, तथा मनुष्यों की अपेक्षा मनुष्य-श्रेणी को प्रदर्शित किया जाता था । जलूस आते जाते दिखाये जा सकते थे किन्तु हाथों-झाथ लड़ाई अथवा रक्तपात की आज्ञा नहीं थी । इसलिये इनका केवल वर्णन ही बोलचाल में किया जाता था, इनको सामने दिखाया नहीं जाता था । नाटक में कोरस ने बहुत स्थान घेरा होता था तथा कोरस गाने वाले पच्चीस तीस मनुष्यों की सतत उपस्थिति में सारे नाटक का खेला जाना नाट्यकारों को बाध्य करता था कि वे अपनी कहानी का ताना यूँ तने कि वह एक स्थान से बाहर न जाय और न उसकी घटनायें एक दिन से अधिक फैली हों । इसी परिमितता ने समय तथा स्थान की

एकता के सिद्धांत को जन्म दिया और क्योंकि नाटक का (विशेषतया दुःखान्त का) मन्तव्य धार्मिक उपासना थी तथा नाटक ऐसे स्थान पर खेला जाता था, जो डायोनिस्सिस (प्रकृति के देवता) का मन्दिर माना जाता था, इसलिये न केवल नाटक की मूल सामग्री सीमित, एक-रूप होती थी अपितु उसमें विस्मय का अंश बिल्कुल ही नहीं होता था, क्योंकि कहानी लोकप्रिय, पौराणिक होने के कारण, उसके अंत का प्रत्येक दर्शक को पता होता था। हाँ, नाटक के पात्रों को इससे अपरिचित दिखाया जाता था, जिस द्वारा “नाटकीय व्यंग्य” (Dramatic irony) उत्पन्न हो जाता था तथा रस में वृद्धि होती थी। अथवा भिन्न २ नाट्यकार जो विशेष ढंग का प्रयुक्त करते थे, किसी घटना के वर्णन का, उससे नूतनता उत्पन्न हो जाती थी। ❀

❀ यूनान में नाटक तीन प्रकार का होता था; (१) नृत्य गीत (कोरस) जो किसी वीणा आदि की सुर के साथ डायोनिस्सिस अथवा किसी और देवी-देवता की स्तुति में गाया जाता था। (२) घोड़े अथवा बकरे आदि जैसी प्राकृतियों का “कोरस” जो दुःखान्त का प्रारम्भ समझा जाता है। (३) सम्पूर्ण ट्रैजेडी (दुःखान्त) जैसे एस्काइजस (२२६ से ४२६ ख्रिष्टाब्द पूर्व) सोफोक्लीज (४०६ से ४०६ ख्रिष्टाब्द पूर्व), यूरीपिडीज (४८४ से ४०६ ख्रिष्टाब्द पूर्व), अरिस्टोफेनीज (४४६ से ३८६ ख्रिष्टाब्द पूर्व) आदि की।

अरस्तू के कथनानुसार यूनानी ट्रैजेडी क्रमशः इन तीनों अवस्थाओं में से गुजरी। पहली यूनानी ट्रैजेडी एथेन्स में ५३४ ख्रिष्टाब्द पूर्व से पहले खेदी गई। नृत्यगान की पहली प्रतियोगिता ५०६

भारत में नाटक के आरम्भ के बारे में दो मत हैं, एक यह कि यूनान की तरह इसका आरम्भ भारतवर्ष में भी धार्मिक आवश्यकताओं से हुआ। भरत ने नाट्य-शास्त्र (तीसरी या पांचवी शती ईस्वी) में लिखा है कि जब धरती, पर काम, क्रोध, लोभ, दुःख खृष्टाब्द पूर्व से पहले हुई और ४८८ खृष्टाब्द पूर्व से पहले सुखान्त की रंगमंच पर अधिकृत रूप में लाया गया।

प्रो० शिल्पे के मत में “यूनानी नाटक” न केवल (अ) धार्मिक भावना का द्योतक था अपितु (आ) यह एक पुस्तकार प्रतियोगिता भी थी जो दंगलों, दौड़ों आदि के अवसरों पर खेली जाती थी। और बाद में दर्शकों के साधुवाद तथा रंगमंच की बढ़िया कार्यकुशलता को मुख्य रख कर दस विचारक अपना निर्णय सुनाते और पुरस्कार बाँटते थे। नाटक कविता में लिखा जाता था, जिसे “कोरस” तथा पात्र रंगमंच पर खेलते थे, विषय तथा पात्रों के अनुसार यह नाटक होमर की कविताओं के साथ मिलता था तथा आज कल के गीतिनाट्य (opera) के साथ।

थैम्पिस ने कोरस के साथ आघात को मिलाने के लिये एक पात्र को भी नाटक में ला घुसेड़ा, एस्काइलस ने दो को, सोक्रोडोस ने तीन को। इसने दृश्य-चित्रण को भी नाटक में स्थान दिया। नृत्य गीत के पात्र पच्चास होते थे। द्रेजेडी के कोरस के बारह जो बाद में पन्द्रह तक बढ़ा दिये गये। सुखान्त के कोरस के चौबीस पात्र होते थे। पहले पहल चार नाटक इकट्ठे खेले जाते थे जो सात आठ घण्टे लेते थे। परन्तु यूरीपीडीज़ ने एक नाटक की प्रथा प्रचलित की। नाटक केवल वर्ष में एक बार मार्च-अप्रैल में खेले जाते थे।

यूनानी नाटक ईरान के साथ युद्धों, दयालु आतताइयों के समय लोकराज्य की ओर प्रगति के दिनों में प्रारम्भ हुआ। नाटक डायो-

सुख का भाव सर्वप्रथम मनुष्य में प्रकट हुआ तो देवताओं ने ब्रह्मा से कहा कि वह कोई ऐसी लीला रचे, जिसे सारे वर्ण देख तथा सुन सकें। इस पर उसने ऋग्वेद में से पाठ, साम से संगीत, यजुर्वेद में से नाट्य की चार विधियाँ तथा अथर्ववेद में से रस खींचा और इस तरह एक पांचवां वेद, इतिहास उत्पन्न हुआ, जिसका सम्बन्ध पुराण के साथ था। उसने शंकर को एक नाट्य-शाला बनाने के लिये कहा और भरत को उसके नियम बनाने का निर्देश किया। पहला नाटक देवताओं तथा दैत्यों के बारे में था, जिसमें दैत्यों की पराजय दिखाई गई थी। जब दैत्यों ने ब्रह्मा के आगे शिकायत की कि वे अपनी पराजय पर प्रसन्न नहीं, तो ब्रह्मा ने उत्तर दिया, कि “नाटक किसी विशेष दल का पक्ष नहीं लेता, यह तो संसार चक्र की अनुकृति-मात्र है, जो सदा सर्वदा चलता

नीसिस की नाट्यशाला में खेले जाते थे तथा निर्धन नागरिकों का प्रवेश-शुल्क राज्य की ओर से दिया जाता था। नाटक के पात्र पेशेवर नहीं होते थे अपितु प्रायः शिक्षार्थी नागरिक जो अपने आपको नाटक खेलने के लिये प्रस्तुत करते थे अथवा कबीले की ओर से (प्रतिवर्ष नाट्य ऋतु में आगामी वर्ष के लिये) नियत किये जाते थे। इसे जन सेवा कहा जाता था तथा रण्य का भार पात्र आप उठाते थे। एक नाट्य-शिक्षक कोरस को सिखाने के लिये पारिश्रमिक पर रख लिया जाता था। नाट्य-पात्रों का बड़ा आदर होता था। कभी कभी कवि आप भी (जो नाट्यकार होते थे) नाटक में भाग लेते थे। नाटक के सभी पात्र पुरुष होते थे।

कविता के सन्तुलन समयानुसार बदलते रहते थे तथा सम्पूर्ण रचना एक सन्तुलन में नहीं होती थी।

रहता है तथा सब के लिये उनकी आवश्यकताओं के अनुसार समानरूपेण लाभदायक होता है। यह प्रत्येक वस्तु को अपनी लपेट में लेता है तथा वेदों और अन्य ऐतिहासिक कथाओं का प्रकट रूप है” ।

इसके सिवाय दूसरा प्रमाण यह दिया जाता है कि इन्द्र को, जो कई रूप धारण करता है, ऋग्वेद में अपनी वीरता के कारनामों, नृत्यगान करता दिखाया गया है (ऋग्वेद ३३; ६) । देवता पानी को यूं हिलाते और उसका मंथन करते हैं, जैसे नृत्यकारों के चरण (ऋग्वेद ७२; ६); दैवी चमत्कारों को लीला कहकर दिखाया गया है तथा नृत्य, संगीत की अथर्ववेद में, दैवीप्रसाद कहकर प्रशंसा की गई है । कौस्तुको तथा जैमिनी ब्राह्मण में बलिदान को उस क्रिया की अनुकृति बताया गया है, जो देवताओं ने सृष्टि के आरम्भ में की थी तथा ब्राह्मणों को अपने करतब, नृत्य करते हुए, बताया गया है । इस प्रकार इन्द्र को अपने कौतुक नृत्यमान् करते लिखना (जैसे नाटक के नायक को) दैवी चरित्र को लीला अथवा क्रीड़ा कहकर सुझाना तथा नाटक के बाकी सारे संकेतवाद द्वारा धरती पर जीव के आवागमन का मनोरथ दर्साना, इन विद्वानों को इस भ्रम में डालता है कि भारत में नाटक की उत्पत्ति धर्म से हुई तथा इसी का प्रचार, निर्माण करने के लिये नाटक जीवित रहा । इतना ही नहीं, अपितु सृष्टि के रचयिता को भी एक खिलाड़ी, मदारी, बाजीगर बताया गया है, जिसके स्वाभाविक हाव-भाव सारे संसार की गतिविधि में से झलकते हैं, जिसकी भाषा

सब भाषाओं का समूह है, चन्द्र तारे जिसके गहने हैं ।

जीवन की अचिर-स्थायी क्रीड़ा तथा उसमें मनुष्य की “आज्ञा-नुसार” काम करने की परवशता नाटकीय संकेतों द्वारा ही अपनी भाषा में प्रकट की है, इस प्रकार का संकेतवाद वेदों, शास्त्रों में प्रायः मिलता है । इसी प्रकार स्रष्टा का डमरू बजाना, लोगों का तमाशे के लिये इकट्ठे होना, स्रष्टा का कई रूप धारण करना, परन्तु प्रत्येक रूप से निर्लिप्त रहना, नाटकीय संकेतों द्वारा, जीवन के मनोरथ को सुलभाना है । तथा जैसे शंकराचार्य ने कहा है “क्या वह पुरुष जो रंग-भूमि पर स्त्री का काम करता हुआ पुरुष के लिये उत्सुक होता, तड़पता है, सचमुच ही ऐसे भावों द्वारा प्रेरित हुआ होता है ? नहीं ।” उसी प्रकार अच्छा नाट्य-पात्र भौंति २ के चरित्रों को प्रस्तुत करता हुआ भी उनके प्रभावों द्वारा लिप्त नहीं होता (प्लेटो ने भी इसी सिद्धान्त पर जोर दिया है) । दर्शक भी नाटक में से ऐसा रस लेता है, जो उसके दृश्य-मान की अपेक्षा अदृश्य आत्मन् को आनन्द देता है । इस प्रकार नाटक का उद्देश्य प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा-सम्मति देना नहीं, अपितु दर्शक को आत्मिक तौर पर आनन्द देना है । प्रत्येक रहस्यवादी प्रयोग भी का परिणाम दर्शन-शास्त्र में दिखाया गया है ।

परन्तु प्राचीन भारतीय नाटक में गनानी नाटक के प्रतिकूल दुःखान्त नाटक का सर्वथा अभाव है* । बहुत दुख तथा मृत्यु

* भास के नाटक ऊरुभंगम् में दुर्योधन की मृत्यु से हमारे हृदय

अथवा रक्तपात रंगमंच पर दिखाने वर्जित थे । समय तथा स्थान की एकता का भी कोई विचार नहीं रखा जाता था । नाटक चाहे कविता में लिखे जाते थे तथा एक साहित्यिक भाषा (जो धीरे २ जनसाधारण की भाषा के रूप में लुप्त होती जा रही थी)—संस्कृत में तब भी उसमें भाषा तोखी, संक्षिप्त, परिवर्तन-शील विस्तार में होती थी । स्त्रियाँ तथा निम्न वर्ग प्राकृत बोलते थे । हाव-भाव, सूक्ष्म कटाक्ष, स्वतंत्र गतिविधि की आज्ञा नाटक की भाषा तथा विषय के अनुसार होती थी, क्योंकि वे प्रायः किसी राजा रानी की प्रेमगाथा जिसमें युद्ध का सम्मिश्रण होता था, के साथ संबंधित होते थे ।†

व्योमचारी देवी देवताओं के संबंध मर्त्यलोक के राजाओं के साथ होते दिखाये जाते थे, हाथ हवाओं में उड़ते । चित्रकला, नृत्य तथा संगीत को भी नाटक में गूँथा जाता था ।‡ पारिवारिकता

में कोई शोक या उदासी का भाव उत्पन्न नहीं होता, अपितु दैवी न्याय का भाव उत्पन्न होता है । इसके बाकी नाटक भी भावी तथा सांसारिक दुःखों से परिचित कराते हैं । परन्तु भगवान् प्रत्येक स्थान पर दुष्टों की हत्या करने के लिये जा पहुँचते हैं, चाहे वह सत्पुरुषों की सहायता से न भी करें । कालिदास ने अपने तीनों ही नाटकों में सुखान्त का प्रभाव डाला है ।

† भास ने चाहे अपने तेरह नाटकों की सामग्री रामायण तथा महाभारत से ली है, पर यह भी प्रेम अथवा युद्ध की कथाएँ हैं ।

‡ भास के दूत वाक्य में दुर्योधन रंगमंच पर उस चित्र की ओर देखता हुआ दिखाया जाता है जिसमें द्रौपदी को केशों से पकड़कर

का आदर किया जाता था* । हास्य रस की उत्पत्ति के लिये विदूषक वर्तमान था, जो ब्राह्मण के रूप में नायक के साथ पर्याप्त स्वतंत्रता ले सकता था । महलों के षडयन्त्रपूर्ण जीवन तथा नागरिक जीवन में नौक-भोंक प्रायः होती थी,† तथा युद्ध की बड़ी प्रशंसा की जाती थी, जिससे “राज्य भाग्य प्राप्त होते थे ।” सिद्धों, ऋषियों, मुनियों की भविष्यवाणी पर विश्वास किया जाता था, तथा ब्राह्मण का आदर था, उसी प्रकार जैसे रीति, मर्यादा का और वर्णभेद का । पशु, पक्षी तथा मनुष्य का आपस में अटूट नाता

खींचा जा रहा है । वह कहता है वणों का अनुपात चित्र में कितना सुन्दर है, कितना भावपूर्ण चित्र है यह, रेखाएं तथा पृष्ठभूमि कितनी समीचीन है ।” बाल-चरित्र में नृत्य को स्थान दिया गया है । स्वप्नवासवदत्तम् में वासवकत्ता वीणा बजा रही है ।

भरत अपने नाट्यशास्त्र में नाटक के पात्रों का वर्णन करता हुआ विदूषक, गायक, नर्तक, सूत्रधार, चित्रकार, मालाकार दृश्य-निर्माता, शृंगारक तथा निर्देशक, सबको गिनता है ।

❧ भास के नाटकों में मुख्य पात्रों की मातृ-संबंध की ओर से पुकारा गया जैसे राम की कौशल्यामातः, भरत को कैकेयीमातः कहा गया है । माता का आदर देवी समान करने के लिये लिखा गया है (मध्यमव्यायोग) परन्तु परनी को पति की सम्पत्ति बताया गया है । (प्रतिमा)

† भास के नाटक, प्रतिमा में राम भरत को शिक्षा देता हुआ कहता है, “महलों की चार दीवारी में ही षडयन्त्र प्रारम्भ होता है ।” सीता भी यही कहती है, “राजा लोग जंगलों को शहरों में बदल रहे हैं” यह कहकर प्रतिमा में नगरों की निन्दा भी की गई है ।

दिखाया जाता था। कुकर्मियों को प्रायः क्षमा कर दिया जाता था, तथा सत्पुरुषों को उनके सत्कर्मों का फल मिलता था। इसलिये पात्र-चित्रण में प्रचलित मर्यादाओं से बाहर जाना असंभव था। चाहे किसी छल, कपट, भ्रम अथवा शाप के कारण आश्चर्य का अंश प्रत्येक नाटक में अवश्य होता था। प्रेम की खुली बात रंगमंच पर की जा सकती थी; विशेषणया विदूषक की ओर से नायक को भंभोड़ने के लिये, चाहे चुम्बन और आलिंगन विवर्जित थे। इस तरह प्रो० यजनीक का यह कथन ठीक है कि “प्राचीन भारतीय नाटक चाहे आदर्श में परम्परा का पुजारी, आदर्शवादी, नैतिकता-परायण था परन्तु उसका विस्तार सदा रोमाञ्चक हो जाता था।

ऐसा क्यों होता था ? इस प्रश्न का उत्तर भी भरत देता है, नाट्यकला के संबंध में जिसकी गवाही सबसे प्राचीन मानी जाती है। इनका कुछ जिक्र हमने ऊपर किया भी है। उनका कथन है कि नाट्य-रचना, संसार में बहुत बढ़ गये निम्न वर्ग की शिक्षा के लिये की गई (वेदपाठ उनके लिये विवर्जित था)। नाटक को किसी आर्य सम्राट् की नहीं, अपितु एक अनार्य नृप, नहुष का तत्त्वावधान प्राप्त हुआ। चाहे प्रारंभ में आर्य लोग नृत्य तथा संगीत के प्रेमी थे (इसके संकेत वेदों में मिलते हैं), जैसे-जैसे वे नियमबद्ध होते गये, वैसे-वैसे ही वे जीवन को अधिक संयम तथा गंभीरतापूर्वक देखने लगे [यहाँ तक कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नृत्य गान शूद्रों के काम बताये गये हैं]। मनुस्मृति में परस्त्री के साथ आलाप विवर्जित है, परन्तु नटपत्नी के साथ नहीं, क्योंकि

वे तो अपनी काया बेचते हैं और प्रच्छन्न रूप में अपनी जीविका चलाते हैं (मनुस्मृति-८; ३६२)] इसलिये नाटक वेदादि ग्रंथों के स्थान पर निम्न जाति के श्रमिकवर्ग के मनोरंजन तथा शिक्षा का साधन बन गया । प्रारंभ में नाट्यशाला, कोई खुला स्थान होता था, परन्तु भरत के कथनानुसार, जब इंद्र के आदेश पर, जब भरत ने देवासुर संग्राम का वर्णन कर के असुरों की पराजय दिखाई, तो दैत्यों ने, जिनकी दर्शकों में बहुसंख्या थी, खूब उपद्रव मचाया और उन्होंने इंद्र की सभा नष्ट कर दी । इस पर इंद्र ने आज्ञा दी कि नाट्यशाला खुले स्थान की बजाय, घिरी हुई चारदीवारी में होनी चाहिये । सो उस दिन से राज-प्रासादों में नाट्यशालाओं का निर्माण भी प्रारम्भ हो गया ।

॥ भरत ने नाट्यशास्त्र में नाट्यशालाओं का आकार-प्रकार दिया है । नाट्यशाला तीन तरह की होती हैं:—

१) विकृष्ट—जो अधिक से अधिक १०८ × ५४ हाथ, (एक हाथ = १८ इंच) मध्यम—६४ × ३२ तथा छोटी—३२ × १६ हाथ की होनी चाहिये ।

२) चतुरस्र—जिसकी लम्बाई, चौड़ाई, बड़ी, मध्यम तथा छोटी नाट्यशाला के लिये क्रमशः १०८, ६४ तथा ३२ हाथ होती है ।

३) त्रिकोण—जिसका प्रत्येक पक्ष १०८, ६४ अथवा ३२ हाथ बड़ी मध्यम तथा छोटी नाट्यशाला के लिये होना चाहिये ।

भरत कहते हैं कि बड़ी नाट्यशाला देवताओं के लिये, मध्यम राजाओं के लिये और छोटी सामान्य मनुष्यों के लिये होनी चाहिये । पहली प्रकार की नाट्यशाला में दर्शक केवल रंगमंच के सामने ही

इससे हमारे मत में तीन बातें प्रमाणित होती हैं :—

१) नाटक का जन्म भारत में, यूनान के प्रतिकूल, धार्मिक पूजा के लिये नहीं, अपितु लौकिक तथा अन्तर्जातीय मनोरंजन के लिये हुआ ।

बैठते थे, दूसरी में रंगमंच के चारों ओर अथवा चक्र में अथवा रंगमंच के बराबर में, तीसरी में दर्शक रंगमंच के दायें बायें और सामने ही बैठते थे । रंगमंच एक प्रकार की सीधी वेदी होती थी, जो स्तम्भों के आधार पर खड़ी की जाती थी । इसके नीचे नेपथ्यगृह था, जहाँ से पात्र, रंगमंच पर, दर्शकों की परली ओर से आते थे । कई पात्रों को रंगमंच पर बीच में खड़ा होना पड़ता था । हम स्थान को 'रंगपृष्ठ' कहा जाता था । (दूसरा कांड)

हमी कांड में लिखा है:—

“नाट्यशाला एक कंदरा की भांति होनी चाहिये, दो छतों वाली; ऊपरी छत (गैलरी आदि) पर राजा रानी आदि बैठते हैं, निचली पर नाटक खेला जाता है । रंगमंच के चारों ओर आठ हाथ स्थान होना चाहिये । पृथक् पृथक् जातियों के लिये पृथक् पृथक् स्थान होने चाहिये ।”

प्रोफ़ेसर शिप्ले लिखते हैं:—

“प्रारम्भ में भारतीय नाटक के लिये रंगमंच ऐसा था, जैसे वर्तमान काल में चीन या जापान का रंगमंच । दर्शकों को एक ऊँचे मंच के सामने बैठना पड़ता था । यह मंच पर्दे आदि से ढका नहीं होता था । मंच के पीछे, “नेपथ्यगृह” था, जहाँ पात्र अपनी वेषभूषा बदलते और रंग आदि लगाते थे । रंगमंच की पिछली ओर से द्वार खुलते थे, जिनमें वाद्य यंत्रों वाले बैठते थे । इन दोनों द्वारों में से एक के रास्ते पात्र आते (‘‘प्रायः द्वार का पर्दा आवाज के साथ परे

२) वेदों के अध्ययन के विवर्जित होने के कारण, लोगों ने नाटक को, जो उन्हें रस के साथ जीवनज्ञान भी देता था, 'पाँचवे वेद' का नाम दिया ।

हटा कर") और दूसरे में से जाते दे । रंगमंच के दो पक्ष, दोनों ओर भी थे, इनमें से भी पात्र आ जा सकते थे । रंगमंच के उपकरण बहुत कम थे तथा सोलहवीं शताब्दी के अंग्रेजी रंगमंच की तरह दर्शक को सूत्रधार के साथ पूरा सहयोग करना होता था । उन्हें संकेतों अथवा बातचीत में बतलाने की ही ढोल थी कि वे अनुभव की आँखों द्वारा समझ जाते कि किस प्रकार का दृश्य खँचा जा रहा है अथवा किस समय और किस स्थान की ओर संकेत है ।"

नाट्यशाला के बढ़िया भवन नाट्योपकरणों से भरे पूरे, धर्ममंदिरों तथा राजप्रासादों का भाग होते थे । पर उनके विस्तार के बारे में हमें बहुत कम पता है । चलते फिरते नाटकमंडल या तो अपने खेमे गाड़ कर, अस्थायी नाट्यशालायें बना लेते थे अथवा समतल भूमि ही कई बार नाट्यशाला का काम दे जाती थी ।

प्रारम्भ में नाटकों का स्वरूप, जिसकी परंपरा अब तक प्रचलित है, उत्तर भारत में 'रासलीला तथा यात्रा' और दक्षिण में 'कथाकली' के रूप में प्रचलित था । यात्रा तथा रासलीला, श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित थीं तथा अद्भुतता, चमत्कार एवं विस्मय द्वारा धार्मिक भाव जगाती थीं । लगभग दो सहस्र वर्ष से इनकी परंपरा चली आ रही है । पतंजलि (दूसरी शती ख्रिस्टाब्द से पूर्व) इनका वर्णन करता है जो 'कंस की हमारे सामने हत्या करते हैं, और उनके करतबों को तुलना चित्रकारों से करता है । जयदेव का गीतगोविंद कृष्णलीला की मूलसामग्री को साहित्यिक रूप देता है । विजयादशमी के अवसर पर रामलीला भी कई वर्षों से दिखाई जा रही है । इसमें प्रायः मौन दृश्य दिखाये जाते हैं । (होली के अवसर पर भी इसी प्रकार स्वांग

३) जैसे जैसे आर्यों तथा बौद्धों ने नाट्य-प्रदर्शन का विरोध किया, वैसे ही उत्तर पश्चिम प्रान्तों की शक जातियों तथा दक्षिण के आंध्रों ने नाटक की देखरेख करनी प्रारंभ कर दी। नहुष इन्हीं में से किसी प्रांत का राजा हुआ होगा।

४) नाटक खुले मैदान से प्रारंभ होकर राजप्रासादों में जा घुसा। वहाँ धीरे धीरे उसका अवसान हो गया।

५) प्रारंभ में नाटक केवल इतिहास, पुराण में से (जैसे भास के नाटक) प्रेरणा लेते थे, उनमें भावों की शक्ति, जगत की वेदना, राजप्रासादों के षडयंत्र, युद्ध की प्रशंसा आदि विषय मूल-सामग्री होते थे। धीरे धीरे यह सामग्री (चाहे इसका संबंध अब भी राजाओं ही से था) प्रेम, हास्य, सुखांत आदि में प्राप्त होना शुरू हो गया (जैसे कालीदास के नाटकों में)।

६) पहले पहल वार्त्तालाप केवल संस्कृत में होते थे तथा

भरे जाते हैं और हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, पूर्णभक्त आदि के नाटक दिखाये जाते हैं)। कथाकला में शब्दों का प्रयोग बिलकुल ही नहीं किया जाता और पूरे के पूरे दृश्य इंगितों तथा स्वांग द्वारा भलीभांति प्रस्तुत किये जाते हैं। पुतलियों के नाटक या छायानाटक आदि भी भारत, जावा, बर्मा, चीन, हिंदचीन आदि में चिरकाल से प्रचलित हैं, इनमें मंच पर सारा नाटक पुतलियों द्वारा दिखाया जाता है, जिन्हें पीछे से, तारों द्वारा हिलाया जाता है। छायानाटक में पुतलियों का सारा नाटक पर्दे के पीछे होता है, और तेज रोशनी द्वारा उनकी प्रच्छादियां पर्दे पर पड़ती हैं।

[देखिये—A Dictionary of World Literature.]

नाटक केवल किसी प्रचलित कथा का वर्णन होता था; धीरे धीरे प्राकृत भी आ प्रविष्ट हुई, यहाँ तक कि मृच्छकटिक नाटक में (जिसे कालिदाम के शीघ्र बाद का माना जाता है) चौबीस-पच्चीस पात्रों में से केवल चार पाँच ही संस्कृत बोलते हैं (इन पाँचों में से भी एक ब्राह्मण है, जो लोगों के घरों में चोरी करता, तथा स्त्रियों के हृदय चुराता दिखाई देता है, एक जुआरी है, एक सरकारी वकील है) ।

समय तथा स्थान का भारतीय दर्शन में वैसे ही कोई महत्व नहीं । जब 'वसुधैव कुटुम्बकम्' है, और जन्म केवल किसी और जन्म का अगला या पिछला जन्म है, तो धरती-आकाश के नाते नाटक में क्यों न आये तथा अनुभव की दृष्टि द्वारा जितना विस्तार-समय या स्थान का-देखने के लिये हमें कोई नाटक बाध्य करता, तो हम उसे कैसे नहीं मान लेते ? रंगमंच की सामग्री लगभग कुछ भी न होने के कारण भी नाट्यकार को सब कुछ लेखनी द्वारा सुझाने की स्वतंत्रता जैसी प्राप्त हो जाती थी । इसका परिणाम यह निकला कि भारतीय नाटक अपने न्यौरे में रोमांचिक होकर चमका । परन्तु 'कर्म की एकता' इसमें अवश्य थी, क्योंकि चाहे मनुष्य किसी भावी, पूर्वजन्म, शाप, अनजाने में दिये गये किसी वचन आदि के कारण दुःखित होता था, अथवा सुख प्राप्त करता था, पर उसके कर्म, सारे नाटक में ठीक उन्हीं के अनुसार होते थे, आघातों की लड़ी को स्वाभाविक सा रूप दे देते थे ।

संपूर्ण नाटक का शीघ्र ही खुले मैदान के स्थान पर नाट्य-शाला में खेले जाना, जहाँ दर्शकों की संख्या बहुत नहीं हो सकती, पात्रों की अधिक तीखी गतिविधि, सूक्ष्म हावभाव तथा कानाफूँसी आदिका विकास करने में अतीव सहायक हुआ। मुख्य पात्र चाहे राजारानी ही थे, फिर भी उनके साथ काम करने वाले जन-साधारण ही होते थे। फिर अन्तःपुर के दृश्यों में (रामायण, महाभारत का बहुत सा अंश इन्हीं में व्यतीत होता है) मनुष्य पात्रों को सञ्चरित्रता तथा साधुवृत्ति में जीना होता था। इसलिये पात्रों को साधारण मनुष्यों से बड़े आकार में प्रदर्शित करने की आवश्यकता एकदम नहीं थी (जैसे यूनान में पुराणों को उजागर करते समय थी)। हमारे मतानुसार भारत में नाटक का आरम्भ, धार्मिक नाटक न होने के कारण (जो दुःखांत नाटक को प्रेरणा देता है), * (धार्मिक इसलिये नहीं, क्योंकि एक तो आर्यों का

*दुःखान्त का सम्बन्ध धर्म के साथ घनिष्ठ है। यूनानी दुःखांत काव्य का सम्बन्ध तो केवल धर्म से ही है। हमारा विश्वास है कि इंग्लैंड में, सोलहवीं शती की प्रोटेस्टैंट मत की विजय ने ही, शेक्स-पीयर की ट्रैजेडी को जन्म दिया (पूँजीवाद भी ट्रैजेडी उत्पन्न करता है, परन्तु इस सम्बन्ध में हम आगे चलकर लिखेंगे)। क्यों ? इस-लिये कि धर्म की तरह ट्रैजेडी हमारे अंदर भय तथा कष्ट का वे भाव जगाती है, जो अरस्तू के कथनानुसार ट्रैजेडी का मुख्य उद्देश्य है। वास्तविक ट्रैजेडी यह नहीं कि मनुष्य किसी दुर्घटना का शिकार हो जाय, अथवा अज्ञान का, वस्तुतः ट्रैजेडी वह है जिसमें मनुष्य प्रयत्न करे सुख, शान्ति, स्थिरता की प्राप्ति की; परन्तु समाज,

धर्म वर्गपूजा के विरुद्ध था, दूसरे धीरे धीरे धर्म एक जाति-ब्राह्मणों की-विरामत बन गया, तीसरे संस्कृत मौलिक मनोरथों तथा निम्नवर्गों के लिये विवर्जित थी), नाटक का लक्ष्य आशावादी, सुखांत जैसा रहा, जिसे लौकिक रुचि हृदय से पसंद करती है, चाहे जानबूझ कर उसकी रुचि को दुःखांत पर पाला जाता है। भारतीय नाटक का प्रारम्भ भी इसमें से टूँजेडी के अभाव का कारण समझा जा सकता है। प्राकृत का उपयोग, विदूषक की नायक के साथ (जो प्रायः राजा होता था) नोंक-भोंक, प्रेम अथवा युद्ध की कथा का विस्तार (जिसमें विजय उमी की होती थी जो सत्य-पथ

नियति अथवा उनकी कोई अपनी निर्बलता, उस चेष्टा के परिणाम से मनुष्य को वंचित रखे। और इस प्रकार उसका अंत दुःख में लिपटा हुआ दिखाई दे। यह सब देखकर दर्शक एक ओर जहाँ अपने से शक्तिशाली किसी व्यवस्था से डरता है, वहाँ नाटक के पात्रों की भाग्यहीनता पर भी अश्रुपात करता है। अधिकतर धर्मों का ध्येय इसी भय तथा करुणा को उत्पन्न करना है। और हम इस मर्त्य के ज्ञान में दृढ़ विश्वास हो जाते हैं कि बहुत कुछ ऐसा है, जिसे हम जानते नहीं, या जानते हुए भी काबू नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में दया तो स्वयं उत्पन्न होनी हुई।

भारत का यह कथन कि जिस नाटक का परंपरा पर आधार हो, वह मध्याह्न से पूर्व तथा करुणरसात्मक प्रातःकाल में प्रदर्शित किया जाना चाहिये, परन्तु शृंगार और हास्य रस का मध्याह्न के बाद और रात्रि के समय, यही सिद्ध करता है कि श्रमिकवर्ग (जो नाटक रात्रि को ही देख सकते थे) परम्परा और करुणा, दोनों से विमुख थे नाटक में, भरत के कथनानुसार ही, बाकी चार वेदों के प्रतिकूल

पर हो) सभी भारतीय नाटक के लौकिक आरम्भ की ओर संकेत करते हैं । राजाओं से भी अधिक ऋषियों, मुनियों का आदर-सत्कार तथा उनके वचन का अटल होना भी इसी का द्योतक है ।

नाटक का बहुत सारे दृश्यों में विभाजन भी इसी लिये किया जाता था, कि जब सभी दृश्य अनुभव की दृष्टि द्वारा ही समझाये जाते थे, तो चाहे जितने दृश्य रच लिये जायें । पर्दे तथा बदलती हुई 'सीनरी' के अभाव ने ही नृत्यसंगीत को जन्म दिया प्रतीत होता है, जिसके साथ नाटक का प्रारम्भ अथवा समाप्ति होती थी अथवा वह दो दृश्यों के मध्यका तीन अंतर को दरमाता था । साथ ही कहानी के सब तार, अंत तक ममेट लिये जाते थे और सब को 'घर पहुँचाया' जाता था, न कि आज की तरह कहानी को पराकाष्ठा पर पहुँचा कर, उस पर ऐसे पर्दा गिरा देना कि घर लौटता हुआ दर्शक विचारमग्न रहे कि आगे क्या हुआ होगा ।

आर्यधर्म के विरोध के बाद, बौद्ध तथा जैन धर्म के विरोध ने नाटक को उत्तर भारत से देश-निकाला ही दे दिया । तथा संस्कृत नाटक दक्षिण के अनार्यों की संपत्ति बन गया; परंतु जन-साधारण अपनी भाषा में रामायण, महाभारत के दृश्य प्रदर्शित करते, स्वांग भरते, नाटक खेलते, रस लेते रहे । और चाहे ये

स्त्रियों को भाग लेने के अनुमति थी और पहले नाटक में ही (जिसे भरत ने प्रस्तुत किया) ब्रह्मा ने स्त्रीपात्रों के लिये अप्मरायें भेजीं (उच्च वर्ण के लोग इसके विरुद्ध होंगे) । यह भी लौकिक रुचि की एक विजय समझी जानी चाहिये ।

कथायें दुःखांत की सीमा तक दुहराई गयीं, तब भी नाटक सामान्य जनता के लिये नैतिक शिक्षा (जो एक प्रकार की धर्मपूजा ही थी) तथा मनोरंजन का भी साधन बनकर चिरकाल पर्यंत लोगों की कलात्मक-तृष्णा को मिटाता रहा । राम तथा कृष्ण की लीलायें, रसलीला आदि, जिनमें स्वांग भरने के सिवाय, संगीत, कविता, वार्त्तालाप, संकेत, भावों की अभिव्यक्ति आदिभी होती थी और (जिन्हें पेशेवर मंडलियां चल फिर कर अथवा नौसिखिये स्थानीय वालक-परन्तु लड़कियाँ नहीं-खेलते रहे) विजयदशमी पर निकलने वाली मौन भाँकियाँ (जिनमें अल्पवयस्क वालक ही भाग लेते थे) तो धार्मिक उत्सवों आदि पर भी दिखाई जाती थीं । परन्तु नित्यप्रति के जीवन में, मदारी, नट, सपेरे, भांड, बहुरूपिये, हिजड़े, साधु-संत, (जो स्वमतानुसार शरीर अथवा सिर पर भस्म रमा कर, गरुण वस्त्र पहने हुए, नांगे, ऊपर नीचे से, निहंग, भाल सजाये, चक्रधारी, भांति भांति के शस्त्र धारण किए हुए, घंटियाँ बजाते हुए शैव, मोरपंख सिर में लगाये, फटे हुए कानों वाले जोगी, कर्णमुद्रा, खप्पर, सिंगी, ग्विधड़, डंडा आदि लिये), भिन्न जातिओं, धंधों के उपासक, (बंधी, खुलो, लटकती हुई अथवा अनियमिततया छाँटी हुई दाढ़ियाँ, पगड़ियाँ और पगड़, भांति भांति के बांधे हुए, गोटे किनारे वाले, ठेके वाले, सफ़ेद मलमल के, जैसे किसी का कोई मर गया हो, अथवा चढ़रें लट्ठे को, जूते तिल्लेदार से भोजपुरी तक, या काष्ठपादुकायें, नीची या ऊँची अथवा नंगे पैर जैसे मद्रास में: शिखायें. मंडे सिर पर बाँधी हई. अथवा पगड़ियाँ

में से उभरे हुए, जूड़े हवा खाते हुए, दृष्टे रंगारंग क गले में सजाकर पहनने के लिये, पटके की तरह, और पल्ला सिर मूँह ढकने के लिये, जैसे स्त्रियों के जूड़े भारी भारी, पीछे, गोल बंधे अथवा वेणियों में लटकने अथवा मेंढ़ियाँ सिर के साथ जुड़ी हुई, लहंगा, तइमत, लुंगी, तंबा और तंबो और चूड़ीदार पायजामे, जो टांगों को शिकंजे की तरह कस दें, और धोतियाँ ढाई गज की, पूजा-पाठी ब्राह्मणों की तरह, पीछे खोंसी हुई आधे शरीर को ढांक्ती हुई, और लंगोटे पहलवानों के, अखाड़े में प्रतिद्वंद्वियों को चुनौती देते, किस नाटकीय स्वांग से कम हैं। यूरोप में ऐसी विविधता कहाँ, जहाँ सभी लोग सिर के बाल बनाये; कोट-पतलून-बूटों में जड़े और स्त्रियों के अधकटे बाल, लहरों में झूमते, सिर से वक्ष तक अनावृत, वे ही चोली-घागरा पहने, मोटी और नंगी टॉगें, ऊँची एड़ी की गुर्गाबी पहने दिखाई देती हैं।

अपनी टोकरो, छड़ी, ताश के पत्ते, ढोलक, गोलियों आदि की सहायता से, मदारी हमें कितना आनन्द दे जाते हैं; जीवन के प्रत्येक असुविधाजनक पहलू पर हंसते हंसते टिप्पणी और अपने जादू के करतबों द्वारा हमारे विस्मय के अंश की पालना इन्हीं का काम है। हमारे भांड, अनुकृति (नकल) में पारंगत, कटाक्षमयी टीकाटिप्पणी में प्रवीण, समाज के साथ पर्याप्त स्वतंत्रता लेते हैं, अपने स्त्री-पुत्रों की सहायता से अनेक भाषाएँ बोलने का अभ्यास कर लेते हैं और इस तरह अधिक साजसामान के बिना, संसार को हँसाते, रुलाते हैं। व्याहशादियों पर उत्तर-पश्चिमी-सीमाप्रांत

में लखतेइए नृत्यगान करते हैं और गानेवालियों की धूमधाम तो ऐसे अवसरों पर प्रायः समस्त उत्तर भारत में प्रचलित रही है ।

इससे हमारा अभिप्राय, केवल यही सिद्ध करने का है कि भारत में नाटकादि की जड़े जनसाधारण में रही हैं, और धर्म का भाव वह केवल वर्ष में एकाध बार परमात्मा की प्रसन्नता के लिये जगाता है । वैसे धार्मिक रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं की वहम की सीमा तक पालना, देखने को यह भ्रम बनाये रखती है कि भारत-वासी धर्म के सिवाय किसी सांसारिक वस्तु के प्रेमी नहीं हैं ।

इंग्लैंड के महान् नाट्यकार शेक्सपीयर को ले लीजिये—उससे ही अंग्रेजी नाटक का वास्तविक आधार स्थापित हुआ था । रंगमंच पर बदलने वाली 'सीनरी' तथा पर्दे के अभाव ने उसके नाटकों को वे स्वतंत्रताएँ दीं और कुछ ऐसी सीमाएँ लगायीं, जिनसे वर्तमान नाट्यकार भय खाते, सकुचाते हैं । वर्तमान समय की अंग्रेजी नाट्यशाला के गठन पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि यह तीन भागों में विभक्त होती थी । सामना भाग किसी गली अथवा बाज़ार, खेत अथवा चौराहे का काम देता था । इसका पिछला ढका हुआ हिस्सा किसी राजप्रासाद के कमरे, सभाभवन अथवा किसी भीतरी घर को दरसाता था; ऊपर की गैलरी, जो भीतरी कमरे के पीछे तथा पात्रों के नेपथ्यगृह के ऊपर होती थी, किसी प्रासाद अथवा किले की दीवार का काम देती थी । इस सादे से रंगमंच द्वारा, जिसकी सामग्री साधारण होती थी, भांकियों का हर घड़ी परिवर्तन तथा आघातों की तीखी गतिविधि संभव थी । समय तथा

स्थान की एकता की विवशता भी इसी लिये नाट्यकार को बिल्कुल ही नहीं थी। प्राकृतिक तथा अन्य दृश्यों का भाषा में वर्णन भी इसीलिये अधिक था, क्योंकि यह रंगमंच पर दिखाये नहीं जा सकते थे तथा दर्शकों को कर्णरस द्वारा इसकी पूर्ति करायी जाती थी। इसी लिये इस समय के नाटक में रोमांचक रुचि स्थापित हुई।

पर्दे के अभाव ने एक तरह नाट्यकारों को बाध्य किया कि वे जाती वार रंगमंच को पूरी तरह खाली करके जायें। इसीलिये स्थल स्थल पर नाट्यकारों ने इस तरह के संकेत दिये होते थे, “इस शव को यहाँ से उठाओ”, “इस दास को किसी घूरे पर फेंको”, तथा सभी नाट्यपात्रों को उनके घर पहुँचाया जाता था। अब ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं। नाट्यकार जहाँ दिलचस्पी की पराकाष्ठा देखता है, वहाँ पर्दा गिरा देता है। शेक्सपीयर के समय, इसी प्रकार अंत तक घड़ना पड़ता था कि कोई तार ढोली अथवा खुती न रह जावे। इसलिये उस समय के नाट्यकार दिलचस्पी की पराकाष्ठा दिखाने से पीछे भी कहानी को घसीटत रहते हैं, ताकि सभी पात्रों को धीरे धीरे रंगमंच से वापिस भेजा जा सके।

इसलिये किसी समय के नाट्यकार की परख करते समय, उस समय के रंगमंच की अवस्था की परख करना, पहली आवश्यकता है; क्योंकि कोई भी नाट्यकार इससे मुक्तिलाभ प्राप्त नहीं कर सकता।

न केवल किसी समय का नाटक रंगमंच की विशेष परिस्थिति से प्रभावित होता है, अपितु नाटक की सफलता उसे खेलने वाले पात्रों, निर्देशक, प्रकाशकर्ता, मिस्त्री, संगीतकार, चित्रकार, शृंगारक आदि पर भी बहुत निर्भर करती है। निर्जीव से निर्जीव नाटकों में भी अभिनेता प्राण फूंक देते हैं; शब्दों पर जोर कहाँ देना है, कहाँ दबाव कम होता है, समयोचित हावभाव, संकेत (हाथों, भौंहों, आँखों, मुख, शरीर सभी की) गतिविधि, कर्त्तव्य के उपयुक्त वेपभूषा, रंगमंच पर आने, वहाँ खड़े होने, बैठने, बोलने का तरीका, रोने, हँसने, क्रुद्ध होने, आहें भरने, सम्मति अथवा असम्मति प्रकट करने के लिये सिर को हिलाना अथवा भट से “हूँ”, “आह”, “नहीं”, ‘हाय’ (जिसका प्रभाव भाषा के लंबे विस्तार से नष्ट हो जाता है तथा नाटक में नैसर्गिकता नहीं रहती), कथोपकथन की गति में प्रभावोत्पादक परिवर्तन (जो सबसे अधिक नाटक के रुखेपन को कम करते तथा उसे शक्ति प्रदान करते हैं) आदि की सूझ द्वारा अभिनेता नाटक के निर्जीव जगत को रक्तमांस के संसार में ले आते हैं। “मैं तुम्हे प्यार करता हूँ, रमे”, “सच, कृष्ण ?” यह दो वाक्य कहने के भिन्न भिन्न आधी दर्जन से अधिक तरीके हो सकते हैं। और संभवतः नाटक लिखते समय, नाट्यकार के हृदय में उनमें से एक भी न हो। इसीलिये ही अच्छे अभिनेता कई बार, नाट्यकारों के लिखे वार्त्तालाप तथा दिए

हुए निर्देशों से भिन्न अभिनय करना चाहते हैं। अवसरों का विकास उनके मत में, वैसा नहीं होता, जैसा होना चाहिये। शब्द मुँह में ठीक नहीं बैठते, कहीं भावों का दबाव अधिक हो गया है, कहीं आवश्यकता से काफी कम; आकार प्रकार में अभिनेता को नाट्यकार के चित्रित पात्र से कम अथवा अधिक होना चाहिये था; उसे किसी और ही तरीके से हिलना, जुलना चाहिये था; उस का स्वर, अधिक चिकना, कोमल अथवा कड़ा होना उचित था। इस प्रकार अभिनेता, अपने व्यक्तित्व द्वारा, एक अधपके नाट्यकार की रचना पर (जिमने नाटक लिखा है, खेला नहीं है) मानो छा ही जाते हैं। साधारणतया अभिनेता एक प्रतिभाशाली निर्देशक से आदेश लेकर प्रसन्न होते हैं और उसे अपने पर एक अनावश्यक बोझ नहीं समझते। परन्तु जब वे यह समझें कि उनका नेतृत्व ठीक नहीं हो रहा है, तो वे अपना नेतृत्व स्वयं अपने हाथों में ले लेने के कष्ट से भी मुँह नहीं मोड़ते।

इसी तरह, किसी आचरण का विस्तार करने, उसका विकास करने के लिये, उसकी निजी वेषभूषा की समीचीनता अत्यंत आवश्यक है। मुँह पर अंधाधुन्ध पौडर, तथा गालों पर लाली लगा देने से चेहरे की प्राकृतिक बनावट ही छिप जाती है; किसी राजा-महाराजा के आचरण के लिये, वेषभूषा अथवा और उपकरण इतने भारी बना देने कि पात्रों की गतिविधि पर बुरा असर पड़े (अथवा उसकी भाषा की अपेक्षा उसकी वेषभूषा ही अधिक आकर्षक हो जावे; अथवा उसके मुँह से निकलते शब्द उसकी वेषभूषा का

अनादर करें); किसी प्राचीन गाथा अथवा ग्रामीण समाज सम्बन्धी दृश्य के वार्त्तालाप में, अभिनेता यदि वर्त्तमानकालीन अथवा नागरिक वेपभूषा में सुसज्जित हों, (केवल इस विचार से कि दर्शक आधुनिक अथवा नागरिक वेपभूषा पसंद करते हैं)—ऐसी सब बातें रंगमंच पर नाटक की सफलता में बाधा डालती हैं ।

दृश्यों का वर्णन भी अब पात्रों के मुख से नहीं करवाया जाता, उन्हें चित्रकार पर्दों पर अंकित कर देता है और प्रत्येक भांकी का पर्दा, रंगमंच के पीछे लटका दिया जाता है । और साथ ही उस दृश्य में अपेक्षित और उपकरण भी । वर्नार्ड शा जैसे कई नाटक-कार तो भांकी तथा पात्रों की बाहरी सजावट का न्यूनतम विस्तार, निर्देशक की सहायता के लिये, अपने नाटकों में, निर्देशकों के रूप में, जड़ देते हैं । पर बहुत सी अवस्थाओं में नाट्यकार का यह काम निर्देशक स्वयं करते हैं ।

पृष्ठभूमि में समयोचित संगीत की धीमी धीमी लय भी सतत प्रवाहित रहती है, और हमारे आवेगों को नयी सान पर चढ़ाकर तोक्षणतर, नोकीला करती रहती है । अनावश्यक तौर पर ऊँचा अथवा अनुपयुक्त संगीत समूचे नाटक का आनन्द किरकिरा कर सकता है । आजकल प्रायः 'आरकैस्ट्रा' रंगमंच पर नहीं दिखाया जाता और संगीतकारों के बैठने का प्रबंध पर्दे के पीछे ही किया जाता है । और जहाँ कहीं गाने अथवा कोई वाद्ययंत्र बजाने का दृश्य दिखाना होता है वहाँ आवश्यक नहीं, कि अभिनेता स्वयं ही गाये या वह वाद्ययंत्र बजाये । नेपथ्य में रिकार्ड यह कार्य संपन्न

कर देता है तथा अभिनेता केवल मुँह हिलाता अथवा यंत्र पर धीरे धीरे, प्रदर्शन के लिये, अंगुलियां चालाता है ।

प्रकाश करनेवाला भी, विद्युत्प्रकाश, चंद्रमा की चंद्रिमा, क्षीणप्रकाश, अंधकार, गोधूलि आदि का वातावरण उत्पन्न करने के लिये अपनी कला का पूर्ण उपयोग करता है । उसके लिये यह जानना आवश्यक होता है कि विशेषतया क्षीण आलोक का प्रभाव इतना अधिक न हो जाय कि दर्शकों को रंगमंच पर कुछ भी दिखाई न दे । प्रकाश का उपयुक्त तथा सुचारु, समीचीन अभिव्यंजन नाटक का यथार्थरूप वातावरण उभारने में बहुत सहायक होता है । दृष्टांत स्वरूप, तीक्ष्ण प्रकाश में चंद्रमा की चंद्रिका का प्रदर्शन दृश्य के प्रभाव को नष्ट कर सकता है—मंद मंद, शीत, हलकी नोली आभावाली, क्षीण सी ज्योति से चंद्रिका का भ्रम उत्पन्न हो सकता है । इसी प्रकार भूतप्रेतादि आधी रात के बाद, घने अंधकार में विचरते माने जाते हैं । ऐसा समय दिखाने के लिये, रंगमंच पर घने अंधकार में एक अंधी सी प्रकाश की रेखा हो, जिस के सहारे हम भूतप्रेतों की अस्पष्टप्राय छाया जैसी देख सकें, जैसे विद्युत् के आलोक को काले वस्त्र से ढकने का प्रभाव होता है, और हो सके तो उससे भी कुछ कम । यह सब कुछ पाद-प्रकाश (Foot-lights) अथवा पक्ष-प्रकाश (Foot-lights) (जो किसी ऊँचे स्थान से किया जाय) को भिन्न रंगों के शीशों, बस्त्रों में से निकालकर, डाइनैमो की शक्ति घटा कर तथा कई और उपायों द्वारा किया जाता है ।

यह सब कुछ समझने का भाव यह है कि नाटक, उपन्यास की तरह, केवल एक शब्दात्मक कला नहीं है। इसे सफल बनाने के लिये नाट्यकार की लेखनी के अतिरिक्त, और भी बहुत से कलाकारों, कारीगरों, तथा उपकरण की आवश्यकता होती है। परन्तु यह सारी सहायक रचना केवल नाट्यकारों की कला को निखारने, और उसे अधिक से अधिक प्राकृतिक रूप में प्रस्तुत करने के लिये ही बरती जाती है। नाट्यकार का स्थान यह नहीं ले सकती। यदि उत्तमतम रंगमंच पर, कुशलअभिनेता भौंति २ की सामाग्री समेत उपस्थित हों, परन्तु उनका वार्त्तालाप, अनुपयुक्त, बेसुर, निर्जीव, केन्द्रहीन, मंथरगति, पात्रों के भीतरी भावों से असंबंधित हो और कहानी को आगे ले जाने की अपेक्षा, पीछे की ओर ले जाये (और कथोपकथनमें ही रचा होने के कारण, नाटक की कहानी तथा पात्रचित्रण सभी कुछ कथोपकथन द्वारा ही होता है। इस लिये, बहुत चुस्त, तीखा, समीचीन, उपयुक्त, पात्रों के मुख में स्वाभाविक प्रतीत होनेवाला ही नहीं, अपितु उनकी निजी उपभाषा का द्योतक, अवसर एवं आचरण के किसी भेद को खेलने अथवा जटिल बनाने में सहायक होना चाहिये, नहीं तो नाटक के सारे रसका लोप हो जावेगा। नाटक के साथ, उपन्यास की तरह, (जब जी चाहा, उठाकर पढ़ लिया अथवा मेज़ पर रख दिया), वाला वर्त्ताव नहीं किया जा सकता। उसे एक ही

बार में (जो दो तीन घंटे से अधिक न हो) अपने सारे पत्ते मेज़ पर खोलने होते हैं, जिसके लिये उसकी कला को उपन्यास की कला से अधिक संक्षिप्त, संयमित, संकेतपूर्ण, प्रतीकवादी, विस्तार-विरोधी—दो-टूक, तात्कालिक, कटाक्षपूर्ण होना चाहिये । साथ ही, कहानो में किसी मानसिक अथवा सामाजिक समस्या का होना अपेक्षित है, जिससे हमारी अस्थिरता को बार बार उकसाया जावे और हम एक ही सांस में, निरन्तर, आश्चर्यचकित हो, एड़ियों के भार खड़े देखते (परन्तु रसपान करते) जायें, ठीक अंत तक । जब पर्दा गिरे तो हम किसी नये विचार अथवा भाव को हृदय से लगा कर उठें, जिसका रस तथा आक्षेप चिर-काल बाद तक हमारे साथ रहे ।

इसलिये नाट्यकार की कला की परख आवश्यक है ।

सबसे मुख्य आवश्यकता, जैसे कि हमने ऊपर संकेत किया है, नाट्यकार के लिये 'संक्षेप' की है । उसे अपनी सारी कहानी की सीमा तीन घंटों से अधिक लंबी नहीं करनी चाहिये । इसके लिये उसे प्रत्येक अनावश्यक विस्तार निकालना होगा, वे ही परिस्थितियां तथा घटनायें चुननी पड़ेंगी, जो अपने आप में कोई विशेष महत्त्व छिपा कर बैठी हों । अरस्तू ने इसीलिये ही कहा था कि नाट्यकार को 'कोई दुःखांत नाटक, महाकाव्य के ढंग से चित्रित नहीं करना चाहिये', भाव यह कि नाटक को कई कथाओं का संग्रह नहीं बनाना चाहिये । 'नाट्यकार के लिये संक्षिप्त होना इसलिये भी आवश्यक है कि उसकी सहायता के लिये अन्य कितने ही

कलाकार, कारीगर तथा साज़-सामान विद्यमान होता है, जिन की आवश्यकता-पूर्ति उपन्यासकार केवल अपने विस्तार द्वारा ही कर सकता है। शेक्सपीयर जैसे रोमांचक नाट्यकार के पास (जिम के समय रंगमंच का पूर्ण विकास नहीं हुआ था) दृश्य-संख्या बढ़ाने तथा उनके द्वारा छोटे मोटे विस्तार को भी ला घुसेड़ने के लिये कोई औचित्य था। इसीलिये वह जब कभी किसी कहानी का नाटक में रूपान्तर करता था, तो उसमें कतरव्योंत इतना सूक्ष्म या इतनी सूझ से नहीं करता था, जितनी आज के नाट्यकार को करनी पड़ती है। किसी महान ऐतिहासिक का, दृष्टांत-स्वरूप नाटक में चित्रण, शेक्सपीयर के लिये संभव था। उसके रंगमंच की सादी कारीगरी, तथा पर्दों और 'सीनरी' का अभाव उसे नाटकीय कला में शिथिलता की आज्ञा देते थे। परन्तु आज का नाट्यकार पूरे युग के किसी एक महान बिन्दु, आदर्श अथवा तथ्य को अपना केन्द्र मानकर उसके चारों ओर अपनी कहानी का ताना तनेगा। इसी प्रकार और विषयों के संबंध में भी। कहानी का मूल केवल कोई एक केन्द्रीय विचार होगा; एक ही कहानी बहुत हुआ तो दो, (और दूसरी कहानी पहली के प्रभाव को मेल अथवा मुकाबले द्वारा गाढ़ा करती हुई); उसी का चित्रण करने वाली सारी भांकियां, पात्रों के आघात, शब्द-संकेत, संगीत आदि होंगे। नाटक में कोई एक अनावश्यक पंक्ति अथवा अनुपयुक्त शब्द चिरकालपर्यंत कर्णशूल सा उत्पन्न करता रहता है। और शब्द कविता की तरह संकोचमय, रहस्यपूर्ण, प्रतीकवादी

नहीं होने चाहिये, जिनसे कुछ समझ ही न आवे। और न ही कहानी के पंख ऐसे काट दिये जायें कि उसमें असामञ्जस्य उत्पन्न हो जाय और शिथिल चूलें चिरचिर करने लगें, भीतरी भेद हमारी नम्रता में न आये अथवा आघात का कारण अथवा किसी परिणाम का संकेतमात्र भी न उभरे। परन्तु जो बात एक शब्द अथवा पंक्ति द्वारा समझायी अथवा सुझाई जा सकती है, उसके लिये दो का उपयोग उतना ही हानिकार है, जैसे एक चपती की भूख को दो द्वारा पूरा करने के यत्न से अजीर्ण होना आवश्यक होता है।

कहानी ठीक अंत तक, अपने अनूठेपन द्वारा, हमारा ध्यान बाँधे रखे, परन्तु उसमें हर घड़ी, एक जैसी उत्सुकता अथवा नसों का खिंचाव न हो; कभी तनाव शिथिल हो, कभी कसा हुआ, कभी दोनों के मध्य में कहीं; और एक बार पूरी पराकाष्ठा पर पहुँचकर (जब हम अपने माथे का पसीना पोंछते हैं) नीचे किसी परिणाम की ओर धीरे-धीरे गिरे। इसलिये आवश्यक है कि कहानी की कोख में कोई संघर्षण (conflict) हो। जिस नाटकीय कहानी में कोई अनिर्वचनीय जैसा असामञ्जस्य नहीं, जिसमें पात्र आपस में टक्कर नहीं लेते, रगड़ नहीं खाते, जिसमें आवेग अथवा आदर्शों की टक्कर नहीं होती, जिसमें भीतरी मानसिक संघर्ष नहीं उठता, आग नहीं लगाता, उस नाटक में ओज उत्पन्न नहीं हो सकता। हम भी अपनी प्रकृति में तभी नाटकीय होते हैं, जब क्रोध अथवा अहंकार के वंश, ऊँचे स्वर में बोलते, फुंकारते, हाथों को इधर उधर पटकते, फेफड़ों और गले पर अधिक भार

डालते हैं; अथवा जब प्रेमविभोर हो, किसी सुन्दरी के घुंघराते केशपाश में अंगुलियाँ नचाते, चन्द्रमा के प्रकाश में किसी वृत्त की छाया के नीचे बैठे, गालें फुलाकर, पलकों को थोड़ा गोला करके, वह कुछ धीमे स्वर में कहते हैं, जो यदि लिखने बैठें, तो दूसरी प्रातःकाल हमें बिल्कुल अनर्गल प्रलाप प्रतीत हो ।

इस प्रकार जब हम किसी शक्तिशाली भाव अथवा आवेग की पकड़ में होते हैं, तो हम कवि बन जाते हैं अथवा नाट्यकार । कवि तब, जब हम इस प्रकार के भावों को स्वीय विचारों में घोलकर, अन्य संकेतों की सहायता द्वारा, प्रतीकवादी ढंग से किसी संतुलन अथवा लय में व्यक्त करें, और नाट्यकार तब होते हैं जब उसी प्रकार, एक के स्थान पर दो पात्रों को मुख्य रखकर, अपना आप छिपाकर, (भीतरी आशय के अतिरिक्त) उन्हीं की भाषा में, उनके भावों हाव-भाव तथा शब्दावली को चित्रित करते हैं, इसी प्रकार नाटक की कथा का रसप्रद होना तभी संभव है, जब इसमें दो विरोधी व्यक्तित्व, विचार अथवा अपने ही अंदर या बाहर के साथ कोई तीक्ष्ण संघर्षण हो; कटाक्षपूर्ण, हृदय में उतर जाने वाली, कटार की तरह, कुछ ओजपूर्ण भी ।

साखी-रूप, कथा-कहानी में भी यह संघर्षण विद्यमान है । आप के साथ पुण्य का युद्ध उसमें दिखाया जाता है । किसी वामत्कारिक व्यक्तित्व अथवा साधना की कृपा से भलाई की विजय होती है । यह संघर्षण व्यक्तिगत होता है । और आगे चलकर गारब्ध अथवा परिस्थितियों के साथ मनुष्य का संघर्षण दिखाया

जा सकता है; अथवा किसी की व्यक्तिगत बुरी या भली आदत के साथ अथवा अपने अंतःकरण के साथ ही। परन्तु किसी न किसी प्रकार का संघर्षण नाटकीय कहानी के लिये मेरुदण्ड की तरह अपेक्षित है।

इस संघर्षण का मूल, कहानी का मूल है; इसका अंत कहानी का अंत है। इन दोनों के मध्य में प्रत्येक प्रकार के उतार चढ़ाव हो सकते हैं। प्रारंभिक विरोध अथवा संघर्ष में से कई समस्याएँ उत्पन्न होगी, कई प्रभाव उसे अधिक तीव्रण, गहरा बनायेंगे, यहाँ तक कि एक बिंदु ऐसा आयेगा, जिसे हम नायक तथा नायिका के लिये (और सारी कहानी के लिये) “जीवन तथा मरण का क्षितिज” कह सकते हैं। यहाँ समस्या जटिलतम होगी; यहाँ हमारा हृदय सबसे अधिक धड़केगा; रोमांच हमें इतना होगा कि आगे कभी हुआ ही न हो। परन्तु जटिलता धीरे-धीरे सरल होनी प्रारम्भ हो जावेगी (एक या दूसरी ओर, अच्छाई अथवा बुराई की ओर) और अंत में कुछ न कुछ हो कर रहेगा।

इस लिये किसी कहानी का नाटकीय बनाते समय कई एक नाटकीय परिस्थितियों* की क्रमवद्ध लड़ी इस तरह की बाँधनी चाहिये कि वह अपनी आश्चर्यजनक असाधारणता द्वारा हमारे

* नाटकीय परिस्थिति (Dramatic Situation) वह है, जहाँ हमारी उत्सुकता, तथा विस्मय असाधारणता तीव्र हो जायें।

ध्यान को सारा समय खेंचती रहे । इन नाटकीय परिस्थितियों के मध्य में हास्य के दृश्य, संगीत, नृत्य, पात्र-चित्रण के लिये अथवा कहानी की लड़ी जोड़ने के लिये कुछ क्षणों का कोई प्रहसन भी जड़ा जा सकता है; परन्तु नाट्यकार को यह कभी भी नहीं भूलना चाहिये कि उसकी सारी कला का ध्येय नाटकीय परिस्थितियों द्वारा अपने केन्द्रीय विषय का, जो उसके नाटक की मूल सामग्री है, विस्तार करना है । और इस केन्द्रीय विषय में किसी प्रकार के संघर्षण अथवा जटिलता का होना आवश्यक है ।

संघर्षण तीन प्रकार का हो सकता है, सबसे सस्ता तथा सरल संघर्षण वह है जो सभ्यता के आदि काल में, अथवा असभ्य मनुष्यों अथवा भावनाटकों में दरसाया जाता है । और जिसमें नायक और प्रतिनायक हाथापाई करते, गुत्थमगुत्था होते दिखाये जाते हैं । दर्शक यही जानना चाहते हैं कि इस शारीरिक युद्ध का परिणाम क्या निकलेगा, विजयो कौन होगा ? विरला ही कोई नाटक होगा, (विशेषतया दुःखांत) जो इस प्रकार के संघर्षण का उपयोग कहीं न कहीं अपने नाटक में उत्साह उत्पन्न करने के लिये न करता हो । हाथापाई की अपेक्षा बातचीत द्वारा भी इस टक्कर, विरोध, मारामारी का वातावरण उत्पन्न किया जा सकता है । बच्चे भी (जिन पर तर्क की अपेक्षा भावों का प्रभाव सर्वाधिक होता है, नकल के प्रेमी होते हैं और इस लिये स्वाभाविक तौर पर नाटकीय होते हैं) जब वे अपनी गुड़ियाओं का ब्याह रचते हैं, तो एक पक्ष को अप्रसन्न कर देते हैं, जिससे

एक साधारण-सी (परन्तु उनके लिये अतीव तीक्ष्ण) नाटकीय परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है । अथवा कई बार बात मनवाने के लिये आप रूठ जाते हैं, कई बहाने (अधिकतर झूठमूठ) घड़ते हैं, हमारे विंचे हुए भावों को बार-बार चुनौती देते हैं और अंत में हमसे आत्मसमर्पण करवाकर प्रसन्न होते हैं । यह भी तो एक तरह का नाटकीय संघर्ष ही है ।

संघर्ष का दूसरा स्वरूप वह है, जो किसी व्यक्ति और उससे बाहरी, परन्तु अदृश्य, अप्रतीयमान, किसी शक्ति में हो । जैसे प्रारब्ध के साथ, समाज के साथ, दैवी शक्तियों के साथ । प्रायः इस प्रकार के संघर्ष का अन्त नाट्यकार, व्यक्ति के लिये दुखद ही चित्रित करते हैं, परन्तु हमें यह सोचने के लिये भी झंझोड़ जाते हैं कि यह सब कुछ किस लिये और क्यों हो रहा है ? समाज, भावी तथा दैवी शक्तियों को नाट्यकार अपने पात्रों द्वारा ही रूपमान करता है, जिनके साथ नायक का संघर्ष होता है । परन्तु वे शक्तियाँ ऐसी नहीं कि उन्हें मल्लयुद्ध द्वारा अथवा अकेले व्यक्तिगत बाहु-बल द्वारा, हराया जा सके । वे दिखती हैं पात्रों के रूप में, परन्तु एक ऐसे स्वभाव में, वातावरण, इकट्ठा, बहम, अचिन्तित रेखा जैसी में लिपटी हुई कि उन्हें हाथों में पकड़ा नहीं जा सकता, मारा, पछाड़ा नहीं जा सकता । यही जीवन का दुःखांत है । और यदि (विशेषतया) सामाजिक शक्तियों पर विजय प्राप्त की जा सके, तो वह सुखांत बन जाता है । केवल सुखांत में ही संघर्ष इतना पक्का नहीं बनाया जाता कि वाद में उसका समाधान ही न हो सके ।

वह संघर्षण धरातल ही का, ऊपर ऊपर का ही, भ्रांतिपरक ही होता है ।

तीसरे प्रकार का संघर्षण वह है जिसमें व्यक्ति, अपने ही अन्तःकरण के साथ संघर्ष करता है । शेक्सपीयर का “हैमलेट” इस प्रकार का सर्वोत्तम उदाहरण है । हैमलेट अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध अपने पितृव्य से, (जो भाई को मार कर उसके सिंहासन पर बैठ गया है और जिसने भ्रातृजाया को अपनी पत्नी बना लिया है) लेना चाहता है, परन्तु उसके हृदय की अस्थिरता तथा कोमलता उसे ऐसा करने से रोकती है । प्रायः प्रत्येक नाट्य में, इन तीनों प्रकारों का ही संघर्षण किसी न किसी स्वरूप में आता है और नाटकीय परिस्थिति उत्पन्न करने में सहायक होता है ।

अब प्रश्न यह है कि इस तथ्य की कैसे पहचान की जाय कि अमुक नाटक में संघर्षण है या नहीं । इस तरह कि एक तो उस संघर्षण को दो एक पंक्तिओं के मूलविषय (Theme) में बाँधा जा सके और उस विषय का विस्तार सारी कहानी में से झूलके । यही विषय नाट्यकार का संदेश अथवा उसका दृष्टिकोण भी होता है । परन्तु यह संदेश अथवा उसका यह दृष्टिकोण अथवा मूलविषय तो कला के प्रत्येक अंग का केन्द्र-बिन्दु है, जिसके चारों ओर सारी रचना का ताना घूमता है । परन्तु नाटक का मूल-विषय संघर्षण में ही प्रकट होता है और इसका अनुवाद आवश्यक तौर पर आघातों में ही करना पड़ता है । उपन्यासकार अथवा कवि की तरह नाट्यकार को यह स्वतंत्रता नहीं कि वे अपने विषय को अलं-

कारों, संकेतों द्वारा अथवा अपनी ओर से विस्तीर्ण करके, उसका आगा-पीछा बतायें। नाटक का मूल विषय “कर्म” बनकर उभरना चाहिये। भाव, रचना ऐसी स्वाभाविक प्रतीत हो, एक आघात दूसरे में से इस प्रकार निकलता दिखाई दे, वार्त्तालाप और आघात कुछ इस तरह कहें, करें, जतलायें कि अतिशयोक्ति अथवा असंभव का किंचिन्मात्र संमिश्रण होने पर भी हमें वास्तविक जीवन-दृश्य की भ्रांति हो, इसलिये नहीं कि नाट्यकार का उद्देश्य यह था, अपितु इसलिये कि पात्र अपने आघातों द्वारा यही सुभाते हैं।

इस प्रकार मूल विषय को (जो कोई जटिलता, संघर्षण, विवशता, प्रश्न, दुविधा आदि होगा) कथानक में (अथवा कार्यक्षेत्र में) घोल देना, एक श्रेष्ठ नाटक को जन्म देना है। यदि मूलविषय पर अधिक दबाव डाला जाये, तो उसकी तारें टूट जाने का डर है और परिणाम “प्रचारात्मक नाटक” होगा, जिससे कलात्मक अभिरुचि की प्राप्ति नहीं हो सकती। भाव यह है कि यदि नाट्य-पात्र, अपने आघातों में किसी संदेश को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा, उसे केवल भाषा द्वारा ही व्यंजित करते हैं, तो नाटक “अक्षर अक्षर” जैसा बन जावेगा। इसके प्रतिकूल यदि मूलविषय के बिना ही कथानक घड़ लिया जाय, तो भावनाटक (Melodrama) का जन्म होगा, भाव इसमें आघात ही आघात होंगे, घटनायें आश्चर्यजनक, अंतहीन, एवं रसदायक होंगी; गतिविधि, भाग-दौड़ खूब होगी, परन्तु परिणाम-रहित। इसलिये महान नाटक का अवश्य ही कोई ठोस, महान, पवित्र, मूल-आशय होता है, जो पात्रों,

(विशेषतया, नायक और नायिका) द्वारा मूर्त्त होता, बोलता है । बाकी पात्र अपने अपने कर्मों द्वारा, और अपने ही निजी, विशेष ढंग से या तो उसकी सहायता करते हैं, या विरोध और इस प्रकार उनका भी पात्रनिर्णय होता है । इस प्रकार का नाटक ही हमारे आदर्श का पात्र तथा चिंतन का भागी हो सकता है ।



जैसे कि हमने ऊपर बताया है, यह विरोध, संघर्ष अथवा जटिलता धीरे-धीरे उत्पन्न होती, पक्की होती तथा समाप्त होती है । भारतीय नाट्यकला ने इस उतार-चढ़ाव के पांच पड़ाव स्वीकार किये हैं:—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) अविमर्ष, (५) निर्वाण । अर्थात्, पहले बीज पड़ा, फिर यत्न से उत्पन्न हुआ, फिर पका, फिर भड़ा, और अंत में समेट लिया गया । इस तरह नाटक के पांच भाग मनुष्य के जीव के अनुसार कर दिये गये । अंग्रेजी नाट्यकला भी उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक नाटक के पांच भाग करती आयी है; प्राचीन फ्रांसीसी नाटक में भी ऐसे ही होता था । कहा जाता है कि यह पद्धति उन्होंने यूनानियों से ली थी । परन्तु प्रतीत होता है कि यहाँ नाट्यकारों को कुछ भ्रम हुआ है, क्योंकि चाहे यूनानी दुर्घात पांच हिस्सों में विभक्त होता था, तब भी उसका प्रत्येक भाग, वर्तमान नाटक के एक दृश्य के समान होता था, न कि पूरे नाटक के बराबर । फिर यूनानी रंगमंच पर तीन नाटकों को इकट्ठा प्रदर्शित करके एक सर्वाङ्गीण कथा का

चित्रण किया जाता था। इस प्रकार इस नाटक के तीन भाग होते थे, पाँच नहीं; चाहे प्रत्येक भाग को पाँच या छै दृश्यों में विभक्त करना पड़ता था। इस तीन अंकों वाले नाटक के अनन्तर, एक एकांकी नाटक, अंत में प्रदर्शित किया जाता था। सो यूनानी नाटक के दर्शक जो कुछ रंगमंच पर देखते थे, वह पंचांगी नाटक बिल्कुल नहीं होता था।

वर्तमान नाट्यकार, इसीलिये तीन (या अधिक से अधिक चार) अंकों में अपनी समस्या का विस्तार करते, उस पर विचार करते और उसका समाधान करते हैं। यह विभाजन अधिक स्वाभाविक तथा प्राकृतिक दिग्वायी देता है। पहले अंक में समस्या का प्रवेश होता है, उसका विस्तार, फैलाव, अधिकतर पात्रों का परिचय, समस्या का कुछ तीव्र होना, और उसमें कुछ और पेच पड़ने। दूसरे अंक में समस्या का और तीव्रण, गहरा, रंगारंग होना तथा नयी कठिनताओं द्वारा उसकी जटिलता में वृद्धि दिग्वायी जाती है। तीसरे अंक में समस्या का पराकाष्ठा पर पहुँच कर, उसकी दिशा में परिवर्तन दिग्वाया जाता है, जब या तो सारी तारें खुल जाती है और सब कुछ जगमग करने लगता है, (जैसे सुखांत में) अथवा समस्या का विकास सुखांत में अपना अंत ढूँढ़ता, मृत्यु, हृदय-वेदना, निराशा में भुँद छिपाता है। यदि अंक चार हों, तो प्रायः तीसरे में, मोड़ दिग्वाया जाता है, समस्या की पराकाष्ठा और उसका विकास चौथे अंक में होता है। परन्तु चौथा अंक अति दुर्बल, निर्जीव, ओज-हीन सा हो जाता है।

यही कारण है कि शेक्सपीयर (जो पाँच अंकों का प्रयोग करता है) अपने चौथे अंक में किसी विशिष्ट प्रभावमयी तथा तीव्र घटना (जैसे किसी प्रधान पात्र का प्रमाद,* कलह, युद्ध, भूत-प्रेतादि का† का प्रवेश आदि) का वर्णन करता है, जिससे रस सुखता नहीं। बर्नार्ड शा ने तो एक बार एक एकांकी में ही पूरी लंबाई का एक सुखांत भी दे दिया है‡। परन्तु रस का अंत तक निर्वाह करने के लिये, उसमें विविधता, दृश्य-परिवर्तन, नये पलटे, अवश्य लाने चाहियें; भाव यह कि नाटक का कम से कम तीन अंकों में विभाजन करना उसके रस में वृद्धि करना है। हाँ, प्रत्येक नाटक के आगे, एक या दो दृश्य हों। अधिक विस्तार के साथ रंगमंच की बारबार सजावट, परदा गिराना तथा दर्शकों को बेकार नीरसता में बिठा छोड़ना अथवा कहानी के पेशों को अधिक जटिल बना देना—ये सब नाटक की सफलता के मार्ग में विघ्न हैं।

इस सब का तनिक और विस्तार करने की आवश्यकता है। फ्रांसीसी लेखक ड्यूमा ने जो सम्मति अपने पुत्र को दी थी, वह यहाँ अतीव समीचीन है। उसने कहा था, “पहले अंक में तुम आशय को खोल कर प्रकट करो, और अंतिम अंक में अतीव संचित रहो तथा सारे को अभिरुचिपूर्ण रखो।” इस प्रकार पहले

* देखिये—हैमलेट

† देखिये—जूलियस सीज़र

‡ देखिये—गैटिंग मैरिड (Getting Married)

अंक में लेखक को अपने विषय का विस्तार करना चाहिये । इसके लिये दो बातें अपेक्षित हैं—पहली यह कि सभी नाट्यपात्रों के साथ पहले ही अंक में हमारा परिचय हो जाय और दूसरी यह कि नाटक का आवेष्टन बांधा जाय ।

पहले अंक को रसपूर्ण बनाने के लिये नाट्यकार को इसमें अपने कथानक का आधार निर्मित कर देना चाहिये । लगभग आरंभ में ही हमें पता चल जाये कि नाटक का कौन सा स्वरूप हमें दिखाया जाने वाला है—रोमांचक, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि—और अंक के अंत तक यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिये कि नाटक गंभीर रस उपजायेगा, अथवा सुखद, पलायनवादी या ठोस; आह्लाद का अथवा अवसाद का । भाव यह है कि पहले अंक से ही हमें किसी विशेष अंत के लिये तय्यार करना आवश्यक है । महान कला का यह चिह्न होता है कि उसका अंत उसके प्रारंभ में ही छिपा होता है । संस्कृत नाटक में सूत्रधार तथा यूनानी नाटक की प्रस्तावना, काव्यमय भाषा में कड़नी के सारांश का तथा प्रधान पात्रों का वर्णन कर देते थे । आजकल ऐसे सरल तथा नाटकीय ढंग का उपयोग अपने आप को हँसी का पात्र बनाना है । (शेक्सपीयर कई बार स्वगतोक्ति द्वारा यही काम चलाता है, जिसे यूनानी प्रभाव का परिणाम ही समझना चाहिये) । चाहे कड़नी कितनी भी सादी, इकडरी, सामान्य समझ की हो, तब भी, पहले अंक की रचना लेखक के लिये सर्वाधिक कठिन होती है । भिन्न-भिन्न पात्रों का परिचय कराना होता है और प्रत्येक की विशेषता

तथा उसके अपनेपन की ओर संकेत करना होता है, ताकि एक पात्र को दूसरे से पृथक् किया जा सके। नाटक प्रारंभ होने से पहले की कुछ एक आवश्यक घटनाओं को समझाना होता है; और विद्युत् के तात्कालिक प्रकाश की तरह दर्शकों का ध्यान खेंचने का उपाय निकालना होता है। लंबी भूमिकाओं से दर्शक उकता जायेंगे। भृत्यों द्वारा उनके स्वामियों या उनकी अपनी किसी समस्या का परिचय कराना, दो पथिकों का आपसी कथोपकथन; विदेश से अभी वापिस लौटे मनुष्य की इच्छा आसपास के समाचार जानने की जिसे किसी पुराने मित्र से मिला कर पूरा किया जाय: इन सब का उपयोग नाट्यकारों ने प्रारंभिक परिचय देने के लिये किया है। पर इस में से कुशलता, प्रयत्न तथा कला-हीनता का प्रभाव भलकता दिखाई देता है।

नाट्यकार की कला का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी कला को न केवल अंतिम समय तक नियन्त्रण में, तथा संचित रखे, अपितु उसे ऐसी तरह निग्वारे कि उसमें से 'कृत्रिमता' तथा 'प्रयत्न' की भलक बिल्कुल ही न पड़े। ज्यूँ ही परदा उठे, पात्र बातचीत के ढंग में सीधा हमें विषय के प्रकट क्षेत्र में ला खड़ा करें और इस तरह करते हुए, न केवल रसदान करें, हमारा ध्यान खेंचें, हमें भंभोड़े, अपितु कहानी के आघात की गति के साथ उनका सीधा संबंध हो। अपरिचित, अज्ञात अवस्था में हमें आगे पीछे का ज्ञान होता जाय, और साथ ही साथ हम प्राणवंत, शक्तिशाली कथोप-

कथन तथा दृश्यों में भी डुबकियाँ लगाय । और यह सब कुछ स्वाभाविक प्रतीत हो ।

इस लिये पहला अंक समस्या का वर्णन करे, कहानी का प्रकरण स्थापित करे; प्रधान पात्रों को रंगमंच पर ले आवे, और यह सब कुछ करता हुआ भी नाटकीय रहे; संक्षिप्त तथा चुस्त हो, कथानक के साथ उसका संबंध यथासंभव समीप न हो, और उसे इस प्रकार छिपा कर, भ्रान्ति में रखकर प्रकट किया जाय कि हमारी उत्सुकता बढ़े । तब भी कई कथानक ऐसे होते हैं, जिनमें ऐसा आदर्श प्रारम्भ प्रस्तुत करना प्रायः असम्भव होता है; परन्तु क्योंकि हम पहले अंकों में ही यह जानना चाहते हैं कि पीछे क्या हुआ था और आगे क्या होगा । इसलिये कई बार प्रकट वर्णन को परंपरागत ढंग का उपयोग करना पड़ता है, यदि नाटक का महत्त्व, उसके विषय तथा उसकी कला की महानता इस उलार को पूरा कर दे ।

अब यह समस्या धीरे धीरे और जटिल होती जाती है, यह इस सबका विकास उन्हीं कारणों, घटनाओं, निश्चयों में से होता है, जिनकी ओर पहले अंक में पर्याप्त संकेत कर दिया गया हो । इस प्रकार नाटक का विकास स्वाभाविक तथा प्राकृतिक प्रतीत होता है । हृदय के उतार चढ़ाव (यदि नाटक के आघात की उत्पत्ति मानसिक द्वन्द्व में हो) अथवा विरोधी शक्तियों की शारीरिक पकड़ (यदि संघर्ष जीवित व्यक्तियों में होता है), इस समय हमारी व्यग्रता को बढ़ाता है । पहली अवस्था में नाट्यकार ने पहले अंक में ही हमें वे मानसिक विशेषतायें दिखा दी होती हैं,

जिनका परिणाम दुख अथवा सुख में निकलता है । दूसरी अवस्था में, पहले नाटक में हमारा परिचय उन पात्रों से करा दिया गया होता है, जिन्होंने दूसरे अंक में समस्या को और कठिन बना देना है । किसी नवीन असंभावित परिस्थिति, अथवा शक्ति को दूसरे अंक में ले आना, अथवा किसी एकदम नये पात्र को ले आना (जिसके लिये हमें पहले ही सावधान न किया गया हो) प्रायः अपरिपक्व कला का चिन्ह समझे जाते हैं ।

विरोधी परिस्थितियों, शक्तियों की क्रीड़ा द्वारा समस्या जटिल हो गई, परन्तु यह प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल है कि यह वहीं पर, उसी तरह पड़ी रहे । इसका या तो पूरी तरह समाधान होगा अथवा यह किसी के गले का पाश बनकर उसका रक्तपान करेगी । जिस स्थल से यह दायीं अथवा बायीं ओर का मोड़ शुरू हो, उसे समस्या की पराकाष्ठा, केन्द्र, अथवा संकट (Crisis) कहा जाता है । इसकी उत्तमता की परख यह है कि यह प्राकृतिक, स्वयम्भूः प्रतीत हो । भूतकालीन परिस्थिति, आघात, पात्रों के सम्मिश्रण आदि में से यह पराकाष्ठा ऊंची होती दिखायी दे । एक ही ग्रन्थ और खेंचने से अधिक पक्की होती जाय, मानों यह कभी खुलेगी ही नहीं यह किसी अकारण घटना की तरह आकाश से गिरती प्रतीत न हो । परन्तु इतनी स्पष्ट, निखरी हुई (परन्तु विशेषतया नहीं) प्रतीत हो कि उसके बारे में किसी संदेह अथवा द्वन्द्व की गुंजाइश न रहे । वर्तमान समय के लेखक इस पराकाष्ठा को, यथासंभव पीछे धकेलने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु प्राचीन

नाट्यकार इसे प्रायः रचना के ठीक मध्य में (तीसरे अंक में) वहीं ले आया करते थे ।

इस संकट के अनन्तर नाटकीय समस्या का समाधान धीरे धीरे प्रारम्भ हो जाता है । इसे हम नाटक का उतार कह सकते हैं, पहले अंक के चढ़ाव के मुकाबले में । यदि नाटक ने सुखान्त बनना है, तो नाट्यकार धीरे धीरे उन सब कठिनाइयों, तथा मानसिक ग्रन्थियों (जिन्होंने नाटक के नायक एवं नायिका के किसी ध्येय के मार्ग में विघ्न उत्पन्न कर दिया होता है और उनके सुखमय जीवन बिताने का अधिकार छीना होता है) के पेच पर पेच खोलना शुरू कर देता है । इसके प्रतिकूल यदि नाटक दुखान्त हो तो वे सारी रचनात्मक, सार्थक शक्तियाँ, जो बुराई को अब तक पूर्ण-प्रकोप बनने से रोकती रही हैं, धीरे धीरे एक एक करके लोप होनी प्रारंभ हो जाती हैं । अब नाट्य-पात्रों में हमारी दिलचस्पी, पहले के अंकों की दिलचस्पी से भिन्न होती है । 'संकट' से पूर्व हमें व्यग्रता, जिज्ञासा तथा उत्सुकता थी, यह जानने की कि जिन पात्रों का हमें परिचय कराया गया है, उनके साथ क्या होने वाला है, बितने वाला है । अब हम लगभग जान गये होते हैं कि अंत क्या होगा । तब भी पात्रों के साथ हमारी सहानु-भूति इतनी चेतन होगयी होती है, कि हम उनके अंतिम आघात तक उनके साथ रहना चाहते हैं, दुखान्त में उन्हीं के लिये पीड़ित होते, आहें भरते हैं कि उनकी कठिनाइयाँ दूर हों, चाहे और जो कुछ हो; परन्तु उन्हें प्राप्ति-सुख अवश्य प्राप्त हो । उन पर

हमें अनुकम्पा आती है, मन ही मन हम चाहते हैं कि वे इस तरह नहीं, इस तरह करें, ताकि उनका ग्रह टल जाये । रोते, सिसकते भी हैं, यदि वे हमारे निर्दिष्ट पथ के प्रतिकूल जाते, मृत्यु अथवा निराशा की गोद में अपनी आशा को रख देते हैं अथवा उनके चामत्कारिक संघर्ष के लिये (जो चाहे उनके अपने लिये ध्वंसात्मक ही निकले, परन्तु इसी लिये हमें वीरता और अभिमान, जीवन और मृत्यु से निर्भयता का प्रसाद दे गया) उनके बड़प्पन का अनुभव करते हैं ।

इस भाग का निर्वाह पर्याप्त कठिन होता है । कई नाट्यकार, अच्छा प्रारम्भ प्रस्तुत करने के बाद, उसकी पराकाष्ठा का प्रदर्शन करके, आघात में परिवर्तन लाने हैं, जो हमें अधीर बना देते हैं, नीरस, निर्जीव, निरुत्साह प्रतीत होने लगते हैं । क्योंकि दर्शकों के यह अनुमान लगा लेने के बाद कि उनके परिचित पात्रों के साथ क्या होने वाला है, उनके रस को अंत तक अनुगुण बनाये रखना किसी प्रवीण कलाकार के लिये ही संभव है । बहुधा यह रस पराकाष्ठा को कहानी के प्रायः अंत तक न दिखाने के द्वारा दिया जाता है अथवा कुछ ऐसी घटनायें हो जाती हैं जो कहानी की दिशा में कोई निर्णायक परिवर्तन किये बिना भी, नीचे गिरते हुए आघातों अथवा उतारों को कुछ देर के लिये रोक लेती हैं । हमारी व्यग्रता तथा हमारा अविश्वास फिर जाग उठता है । सुखांत में अदृष्ट, अवाञ्छित कुछ ऐसी कठिनाइयाँ आ खड़ी होती हैं, जो घटनाओं को प्रकाशपूर्ण पथ पर जाने से रोकती हैं, दुखान्त में

कुछ ऐसे संकेत किये जाते हैं, जिनसे यह प्रतीत हो मानों नायक और नायिका के बचने के लिये अब भी कोई अवसर उत्पन्न हो सकता है ।

अब हम नाटकीय समस्या के उस पड़ाव पर आ पहुँचे हैं, जहाँ हमारी कल्पनाशक्ति संपूर्णता तथा समाप्ति पर ठहरने के लिये मन्तु है । वर्तमानकालीन नाटक (और उपन्यास) का अन्त, हमारे हृदय पर संपूर्णता तथा किसी व्यवस्था का प्रभाव अंकित नहीं करता, क्योंकि यथार्थवाद के कट्टर समर्थक यह कहते सुने जाते हैं कि “यदि कला का अभिप्राय जीवन का यथार्थ चित्रण है, तो क्या किसी जीवन में कोई ऐसा बिन्दु है (सिवाय मृत्यु के, जो सर्वसाधारण होने के कारण अपनी असाधारणता गँवा बैठी है), जिसे जीवन का अंत कहा जा सके । जीवन में घटनायें होती हैं; अच्छी भी और बुरी भी, पर किसी अतर्किन जैसे तरीके से, कुछ असंबद्ध, असंगत, जिनको निर्णयात्मक, विशिष्ट समाप्ति कोई नहीं होती । जीवन-प्रवाह बहता चला जाता है, चाहे उसमें कुछ लहरें ऊँची उठती हैं, जल के स्तर को चंचल बनाती हैं, कुछ तट की मिट्टी में विश्राम करने लग जाती है, कोई चट्टानों के साथ टकराकर चूरचूर हो जाती है, परन्तु जीवन की नदी के लिये इनका कोई ठोस महत्व नहीं । यह युक्ति तर्कसंगत है । और सुखान्त के अंत में प्रत्येक बार ब्याह की शहनाई सुनकर, हम कईबार अधीर हो जाते हैं, इसी प्रकार दुखान्त में मृत्यु का बहुत गाढ़ा, भयानक चित्र देखकर भी व्यग्रता उत्पन्न होती है । तब भी जब कला

जीवन में से उनके चारों ओर की सारी अनावश्यक धूलि को झाड़ पोंछकर, विशेष घटनायें चुनती है, और उन्हें एक विशेष प्रकार के आदर्श वातावरण में विकसित करती हैं; उनके क्रमको बदल देती है; उन्हें कहीं मृदु, कहीं कठोर कर देती है; कहीं अतिशयोक्ति द्वारा किसी प्रभाव को गहरा कर देती है; भाषा को जोड़ जाड़कर छीलकर, तोड़ फोड़कर एक विशेष प्रकार की ज्योति, क्रम तथा शक्ति का प्रमाद देती है तो कला एक सुखद, तृप्तिदायक, संतोषजनक व्यवस्था और उसका एक अभिन्न अंग, दोनों बन जाती है ।

परन्तु अंत चाहे कैसा ही क्यों न हो—सुखान्त अथवा दुःखान्त—उसे अवश्य ही स्वाभाविक होना चाहिये, भाव यह कि अंत पात्रों के उन्हीं आघातों का परिणाम हो, जो नाटक में दिखाये जायें और किसी असामञ्जस्य अथवा अकारण घटना में से न निकल आये । यूनानी नाटकों में (दृष्टान्त के लिये, यूरीपीडीज के नाटकों में) जैसे देवगण, आकाश से उतर कर जैसी घटना अपेक्षित हो (अथवा परम्परा से प्रचलित हो) वैसी ही घटना घड़ देते थे, इस प्रकार नाटक में कभी नहीं होना चाहिये । संस्कृत नाटक भी इसी प्रकार देवी देवताओं को मनुष्यों की सहायता के लिये स्वर्ग से उतार लाया करता था । वर्तमान नाटक में चाहे अलौकिक चमत्कार नाटक की दिशा में परिवर्तन नहीं लाते, तब भी कई बार नाट्यकार सारे तार मिलाने के लिये अथवा समस्या-समाधान के लिये किसी स्वाभाविक उपाय के अभाव में, किसी राजा से अपराध क्षमा करवा लेते हैं, अथवा बुराई पर काबू कर लेते हैं; कोई

तथाकथित मृत मनुष्य जीवित उपस्थित हो जाता है, कोई भूली जा चुकी वसीयत प्रकाशित हो जाती है, किसी दुर्घटना में विरोधी मारा जाता है । सुखान्त नाटक में ऐसे उपायों का प्रायः प्रयोग किया जाता है और वे दंतब्य हैं, क्योंकि इस प्रकार के नाटक का अंत अधिकतया इन अनादि, युगजीवी सत्त्यों का प्रकाश नहीं करता, जो दुखान्त के अंतिम भाग में चित्रित किये गये होते हैं । इस प्रकार की रचनाओं में हम नैतिकता के परंपरागत सिद्धान्तों से थोड़ी स्वतन्त्रता भी ले सकते हैं, क्योंकि उसके सदाचार-संबंधी अर्थ वैसे भी महत्वपूर्ण अथवा रचनात्मक नहीं होते । परन्तु जहाँ नाट्यकार जीवन के गहरे स्तरों को खोलता है, और उनके सामाजिक अर्थों को ढूँढता है, वही उसे अपनी प्रत्येक घटना पात्रों के अपने स्वभाव तथा आवेष्टन के आघातों में से विकसित करनी चाहिये, ताकि दुखान्त का अधिकतर कारण, मनुष्य की अपनी सूझ की कमी अथवा समाजविरोध आदि अवगुण प्रत्यक्ष स्पष्ट हो जायें (जिन दोनों को रचनात्मक तथा संगठित ज्ञान के संघर्ष द्वारा दूर किया जा सकता है । सुखान्त के भ्रम, तथा भ्रांति का हास्य हम हंसी में भुला देते हैं । परन्तु ऐसी समस्यायें तथा भूलें, जो मानव का श्वासावरोध कर दें, समाज में हलचल मचा दें अथवा बुराई का कोई ऐसा चक्र घुमा दें कि जीवन में से आशा, स्थिरता, शांति तथा प्रेम समाप्त हो जायें, (जो प्रायः दुखान्त के कारण होते हैं) तो उन्हें सहज ही कैसे भुलाया जा सकता है ? मानव उनके कारण ढूँढना चाहता है तथा दख को औषध में बदलने का प्रत्येक

उपाय सोचता है। इसीलिये ये कारण अलभ्य, अदृश्य, चामत्कारिक नहीं होने चाहियें, अपितु इन्हें नाटक में से निर्णायक उपाय द्वारा ढूँढना सम्भव होना चाहिये ताकि जाति भविष्य में उनका कोई उपाय सोच सके और जीवन अधिक जीने लायक, निर्विघ्न प्रकाशपूर्ण, शक्तिशाली होकर प्रवाहित हो।



अब इससे यह पता चल गया होगा कि नाटक का सारा ढाँचा किसी नाटकीय समस्या के चारों ओर खड़ा किया जाता है। यही समस्या एक दो पंक्तियों में समझाई जाने पर नाटक का मूल विषय बन जाती है। पात्रों के आघातों द्वारा इसके विस्तृत होने से (और जैसा कि हमने बताया है कि नाटक में सब कुछ आघातों द्वारा प्रकट होना चाहिए और आघातों में पात्रों का कथोपकथन, स्वगतोक्ति, शारीरिक गतिविधि तथा संकेत, सभी सम्मिलित हैं) यह हमें कथारस भी देती है (जो उपन्यास भी देता है) तथा नाटकीय रस ❀ भी (जो उपन्यास नहीं देता अथवा कहीं कहीं पर ही देता है)।

❀ नाटकीय रस वर्णनात्मक रस से एक भिन्न पदार्थ है। किसी कथा-कहानी का विशुद्ध वर्णन, जो हमारे कौतूहल को जगाये, हमें कर्णरस देता है और हमारी कलात्मक चेतना को स्पंदित भी करता है। परन्तु नाटकीय रस हमें पात्रों के कथोपकथन, भावों के ओज तथा चढ़ाव, वास्तविकता की भ्रान्ति और आघातों के

परन्तु नाटक का कार्य यहाँ समाप्त नहीं हो जाता । वह उपन्यास की तरह ही माननीय आचरण के कोने-कोने को यूँ ढूँढ-ढूँढ कर हमारे सामने रखता है कि हम जीवन के रंगारंग, बहुविध, पथों से परिचित होकर, जीवन के विरोधों, अन्यायों तथा रमणीयताओं के एक नवीन ज्ञान के सत्य में अंतःकरण को रचते हैं । परन्तु जहाँ उपन्यास वर्णनात्मक ढंग से (उपन्यासकार की ओर से और बीच-बीच में कथोपकथन द्वारा भी अथवा किसी एक पात्र की ओर से) कहानी के तार तन कर अथवा खोल कर पात्रचित्रण करता है, वहाँ नाट्यकार केवल आघातों द्वारा ही यह कार्य सम्पन्न करता है । नाटक आपसी कथोपकथनों द्वारा अपनी समस्या खड़ी करना तथा उसका समाधान करना है; यह वार्त्तालाप आघातों अथवा शारीरिक गतिविधि में ही प्रकट होता है तथा पात्रों के अंतस्तल को भी हमारे सामने आलोकित करता है (कभी कभी स्वगतोक्ति द्वारा भी ऐसे किया जाता है) इसी प्रकार नाटक में, उपन्यास के उल्ट, कथानक तथा कथानक-निर्माण, ऐसे अभिन्न ढंग द्वारा आपस में घुले मिले होते हैं । जो कुछ आघातों द्वारा प्रकट नहीं होता (केवल हृदय के स्तरों में रहना है) उसका नाटक में कोई स्थान नहीं, और यदि नाटक में उन आघातों के संघर्ष में से पात्रों के विशेष आचरण को अनावृत नहीं करता, तथा केवल

संघर्ष द्वारा, जिसे हमारे नेत्र भी ग्रहण कर सकें, द्वारा प्राप्त होता है ।

घटनाओं को घमासान जैसी रच कर हमारी उत्सुकता जगाता है, तो अपनी कला को अज्ञानवश नष्ट कर रहा है ।

संसार के किसी महान् नाट्यकार को ले लीजिये, शेक्स-पीयर, मोलिये, शा, इवसन, मेटर्लिक, दोनोव्स्की, उनकी कला का गुण, उनके कथा रस के कारण (या इसे घटनारस भी कहा जा सकता है) इतना नहीं, जितना मानसिक क्षेत्र के किसी ऐसे पथ को आलोकित करने के कारण है, जिसे क्रियाक्षेत्र में प्रकट होता हम नित्यप्रति देखते हैं परन्तु उसका कारण हम नहीं ढूँढ़ पाते । मनो-विज्ञान अवश्य हमें इस बारे में कुछ ज्ञान देता है, परन्तु इस ज्ञान को हम तब तक स्वीकार नहीं करते, या हृदय पर अंकित नहीं करते, जब तक वह हमारे सामने आघातों द्वारा, जो हमें रस दें, और उत्साहित करें, स्पष्ट प्रकट न हो जाय । इसलिये यह और भी आवश्यक है कि नाट्यकार अपनी कला को ऐसी व्यवस्था में गूँथे, अपनी सामग्री को इतना संक्षिप्त तथा सीमित रखें कि पात्रों के अंतःकरण को उनके प्रत्यक्ष आघातों में यूँ घोल दे, कथोपकथन इतना संगत, उकसाने वाला, आकर्षणपूर्ण, विद्युच्चंचल, परन्तु भावमय, स्वाभाविक परन्तु घड़ा हुआ ओजपूर्ण लिखे कि कानों, आँखों, हृदय तथा धमनियों, सबको एक सी परितृप्ति हो । इतने संयम की अपेक्षा हम उपन्यासकार से नहीं करते । वह जिस किसी वस्तु का वर्णन आघातों द्वारा नहीं कर सकता उसे अपने मुँह से, टीकाकार की तरह कह सकता है; पात्र के मानसिक हाव-भावों द्वारा पन्ने के पन्ने रँग सकता है । परन्तु नाट्यकार आप

नहीं बोलता, उसके पात्र बोलते हैं, वह भी क्वचित् कदाचित् स्वगत ही; सब कुछ साधारणतया किसी दूसरे को विश्वासपात्र बना कर अथवा किसी शारीरिक टिप्पणी द्वारा वर्णन करना होता है—दो तीन घंटों में दर्शकों की भीड़ के सामने (जो रस प्राप्ति के अभाव में शोर मचाने से भी आना-कानी नहीं करते, किसी अपरिपक्व पंक्ति पर टीका टिप्पणी करने से भी नहीं चूकते; और यदि प्रत्यक्ष आघातों का पात्रों के वर्णित स्वभाव के साथ सम्बन्ध कम हो तो असम्बद्ध आघातों के समय खिल्ली भी उड़ा देते हैं) । इसलिये उसे अपनी संपूर्ण कला का उपयोग करके अपने आप को अति संक्षिप्त, परन्तु स्पष्ट; केवल प्रत्यक्ष आघातों द्वारा ही मानसिक चित्रण, (जो सीधे पात्रों की प्रकृति में फूट निकले); जीवन दर्शन की कोई नयी भाँकी दिखाता परन्तु किसी और के मुँह से, कथानक के ढाँचे में गूँथ कर, यह प्रभाव उत्पन्न करना चाहिये कि उसने कला का चेतन उपयोग कहीं नहीं किया ।

इसलिये पात्र-चित्रण, नाट्यकार के लिये उतना ही अपेक्षित है, जितना उपन्यासकार के लिये; चाहे नाटक में एक भिन्न ढङ्ग से इसका निर्माण करना होता है । हम पात्रों को बाहर भीतर से इस प्रकार ही जानते हैं कि ये कुछ आघात (शब्दों द्वारा, अथवा शारीरिक गतिविधि द्वारा) हमारे सामने निखारते हैं । यह आघात ही कथानक है । हम उनके विशेष गुण-अवगुणों की तब ही जाँच करते हैं, जब उन्हें किसी कठिन पहेली, अथवा समस्या में उलझते देखते हैं । इस प्रकार कथानक तथा पात्र-

चित्रण दाना एक दूसरे पर पूरी तरह निर्भर हो जाते हैं । कथानक पात्रों के मानसिक संघर्ष को रूपमान करता है, पात्रों का भीतरी संघर्ष बाह्य आघातों में प्रत्यक्ष होता है, जिसे हम कथानक कहते हैं । नाटक में इन दोनों का जितना अधिक से अधिक मेल होता है, उतना ही वह सफल कला का साक्षी होता है ।

परन्तु जैसे कि प्रोफेसर हडसन ने कहा है कि, क्योंकि कथानक केवल उसी को अभिव्यक्त करता है, जो कुछ कोई पात्र करता दिखाई देता है, इसलिये केवल उसी पात्र की सामान्य विशेषतायें उभार सकता है । और यह करने के लिये भी उसे अपने ढाँचे में बहुत गाढ़ा होना चाहिये, साथ में शक्तिपूर्ण, ताकि उसके विशेष अवसर इस तरह विकसित हों कि उनके बारे में कोई भ्रम न रह जावे । साथ ही, पात्र एक विशेष परदे पर चित्रित होने चाहिये तथा अधिक जटिल नहीं होने चाहियें । भाव जैसे-जैसे पात्र, अपने आपको हमारे सामने खोलें, जैसे-जैसे उनके मनोभाव, भावनायें, आदर्श फलें, फूलें अथवा जटिल होते जावें, हम सम्पूर्ण आघात को कथोपकथन में चित्रित हुआ सुन सकें । इस प्रकार कथोपकथन आघात का एक विभिन्न अंग बन जाता है, विशेषतया उस समय, जब नाटक किसी मानसिक सत्य को सुझा रहा हो, क्योंकि ऐसी परिस्थिति में नाटक में कथानक आघात की पृष्ठभूमि में गतिशील उस मानसिक क्रीड़ा के साथ अपना नाता जोड़ता है, जो आघातों में प्रकट होती है, न कि दृश्यमान

क्रियाओं द्वारा जो उसे निखारते हैं । इस प्रकार कथोपकथन आघात का ही एक अभिन्न अंग बन जाता है ।

कथोपकथन का पहला कार्य, क्या उपन्यास और क्या नाटक में, पात्र-चित्रण है । उपन्यास में भी कथोपकथन बहुधा अंग-विश्लेषण तथा टीका-टिप्पणी का काम देता है । परन्तु नाटक में तो इसके बिना, ऐसा कर सकना असम्भव ही है ।

कथोपकथन द्वारा पात्रचित्रण दो तरीकों से किया जाता है । पहला, किसी पात्र की स्वगतोक्ति द्वारा; दूसरा अन्य पात्रों की तत्सम्बन्धी वार्त्तालाप द्वारा । पहली परिस्थिति में हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि पात्र किन परिस्थितियों में तथा किस व्यक्ति के साथ वार्त्तालाप कर रहा है । सम्भव है, वह जो कुछ कह रहा है, उसका ध्येय, उसके ठीक प्रतिकूल हो, जो वह सब कुछ न हो, जो वह शब्दों द्वारा प्रकट कर रहा है ।

सम्भव है नाट्यकार नाटकीय व्यंग्य* का उपयोग कर रहा हो; यह भी हो सकता है कि पात्र पहले भ्रम जैसा उत्पन्न करके, धीरे धीरे, अथवा अधिक सम्भव है, एक बार में ही कहीं बड़ी तत्परता

* नाटकीय व्यंग्य वहाँ होता है, जहाँ पात्र, जो बात कह, कर रहा होता है, आप उसके परिणाम से अपरिचित होता है, परन्तु दर्शकों को उसके परिणाम का ज्ञान होने के कारण एक प्रकार का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष का संघर्ष जैसा उत्पन्न हो जाता है । नाटकीय व्यंग्य वहाँ भी प्रयुक्त किया कहा जा सकता है, जहाँ किसी पात्र का अन्तर और हो और बाहर उसकी भ्रम और तरह उत्पन्न हो । इस 'दुबिधा' अथवा भ्रान्ति को भी नाटकीय व्यंग्य कहा जा सकता है ।

से, अपने वास्तविक रूप से हमें परिचित करले। इस दूसरी अवस्था में हमें पूर्वोक्त सारे कथोपकथन को इस तात्कालिक परिवर्तन के प्रकाश में दुबारा परखना होगा। परन्तु साधारणतया नाट्यकार अपने पात्रों के विशेष गुण अवगुण, जितनी जल्दी हो सके और जितना स्पष्ट हो सके, चित्रित कर देते हैं और जब वे कोई आघात करते हैं अथवा नहीं करते, तो हम उसे हास्यमय अथवा अर्थहीन, तात्कालिक अथवा वहमी जैसा आघात नहीं समझते, अपितु स्वाभाविक समझते, रस लेते हैं, चाहे इस स्वाभाविकता में भी आश्चर्य तथा विस्मय का पर्याप्त, प्रचुर अंग मिश्रित होता है (क्योंकि यह जानते हुए भी कि पात्र का कोई पक्ष उत्तार है, हम यह बताना चाहते हैं कि इसके कारण, उसके साथ क्या २ बीतेगी तथा हमें अनुकंपा और शोक भी होता है कि ऐसा क्यों हुआ, अथवा सुखित हो उठते हैं, यदि समस्या का अन्त में समाधान हो जाय)।

अपने कथोपकथन के सिवाय, जो जो कुछ कोई पात्र किसी और पात्र के सम्बन्ध में कहता है, वह भी पात्रचित्रण में सहायक होता है। परन्तु यहाँ भी यह देख लेना चाहिये कि उस पात्र का दूसरे के साथ सम्बन्ध नाटक में किस प्रकार का है—सहानुभूति-पूर्ण, विरोधी अथवा व्यंग्यमय। साथ ही यह भी जान लेना चाहिये कि बातचीत का अवसर क्या है? प्रत्येक परिस्थिति में, किसी के बारे में, एक जैसी बात नहीं कही जा सकती। तब भी एक नाटक में किसी एक पात्र के बारे में इतना कुछ एकरूप मिल जावेगा कि उसकी विशिष्टता तथा दूसरों से पृथक्ता स्पष्ट उभर आवेगी।

नाटक में एकाध पात्र ऐसा भी होता है जो अन्य पात्रों के बारे में अधिक उत्तरदायित्व तथा साहस के साथ कहने का अधिकार रखता है। बहुधा वह नाट्यकार का अपना ही अप्रकट रूप होता है, जिसके द्वारा वह अपने जीवन-दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है। ऐसी परिस्थिति में उस पात्र के मत, टिप्पणियाँ, संकेत, बड़े अर्थपूर्ण होते हैं।

परन्तु कई बार नाटक के पात्र, स्वगतोक्ति आदि द्वारा पात्रचित्रण की किसी न्यूनता को पूरा करते हैं। वर्तमान युग में इस ढंग का परित्याग कर दिया गया है, क्योंकि कोई पात्र अपने आपके साथ रंगमंच पर बातें करता स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता, न ही कोई इतना एक ओर होकर बातें कर सकता है कि रंगमंच पर खड़ा कोई और पात्र तो उसे सुन न सके, परन्तु दर्शक सुन लें। भारतीय तथा यूनानी कला में सूत्रधार तथा 'कोरस' आदि को इस ढंग का परिवर्तित रूप समझना चाहिये। शेक्सपीयर इस ढंग का प्रायः प्रयोग करता है; परन्तु वर्तमानकाल के नाट्यकार ऐसा नहीं करते; विशेषतया 'यथार्थवादी नाटक' में इसकी आवश्यकता विल्कुल नहीं समझी जाती।

६

नाटक का विभाजन रूप के अनुसार भी हो सकता है; विषय तथा भाव के अनुसार भी। रूप के अनुसार नाटक परम्परा-पूजक (मनातन) भी हो सकता है, रोमांचक भी, यथार्थवादी भी,

ऐतिहासिक भी, प्रतीकवादी भी, प्रभाववादी भी । भावानुसार इसके केवल दो प्रधान रूप प्रकट हुए हैं—दुःखांत तथा सुखांत । इन दो के बीच में और भी कई स्वरूप हो सकते हैं, जैसे स्यांग अथवा प्रहसन, भावनाटक, प्रहास (Burlesque) गीतिनाट्य आदि । परन्तु नाटक के साहित्य में जो महत्त्व सुखांत तथा दुःखांत को प्राप्त है, वह अन्य किसी अंग को नहीं ।

दुःखांत* वह है, जो अपने विषय तथा उसके विस्तार में,

* दुःखान्त का आरम्भ प्राचीन समय की धार्मिक, जातीय अथवा पारिवारिक पूजा तथा रीति-रिवाज में ढूँढा जा सकता है । अनादि काल से ही किसी पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा अपने वंश के किसी पूर्वज को नायक बनाकर उसका संघर्ष किसी विरोधी के साथ दिखाकर नायक की मृत्यु दर्सायी जाती थी तथा उसके बाद उसका पुनर्जन्म, जैसे प्रकृति में भी होता है । सर्वप्रथम दुःखांत मिश्र तथा श्याम में आरम्भ हुआ, जिसका सम्बन्ध ओसरीस, अचीस तथा ऐडोनी आदि पौराणिक पात्रों के साथ था । दूरपूर्व में जापान के सिवाय (जहाँ प्रेतनाटक आदि उत्पन्न हुए) अन्य किसी देश में दुःखान्त प्रचलित नहीं हुआ । यूरोप में दुःखान्त का प्रचलन सर्वप्रथम यूनान में हुआ, जिसका वर्णन हमने ऊपर किया है । ट्रैजेडी (Tragedy) शब्द का मूलार्थ, 'बकरे के गीत' के हैं । सम्भवतः इसीलिये ही प्राचीन समय में बकरी आदि पशु नाटक की प्रतियोगिताओं में पुरस्कार रूप में दिये जाते थे । बकरे की बलि, जो देवताओं की प्रसन्नता के निमित्त प्रायः की जाती थी, इस प्रकार ट्रैजेडी का भावतत्त्व बन गई । अरस्तू ने भी ट्रैजेडी का प्रारम्भ उन वनदेवता सम्बन्धी नाटकों को बताया है, जिनमें पात्र आधे मनुष्य आधे बकरे होते थे । और यह है भी ठीक । जैसे बकरा, यूपकाष्ठ

गंभीर, गहरा, हृदय को हिलाने वाला, तत्वपूर्ण, प्रभावशाली तथा महान होता है तथा जिसमें किसी न किसी कारण पदार्थों का ताना बिगाड़ जाता है, जो अथक परिश्रम अथवा बलिदान के बिना सुधारा नहीं जा सकता। जोवन में बिगाड़ और समस्यायें कई उत्पन्न होती हैं, परन्तु वे प्रायः अवसर पर सुलभ जाती हैं। परन्तु सुखांत में कठिनाइयां सुलभने का इतना मूल्य माँगती हैं, जो साधारण मनुष्य भर नहीं सकता और हमारे लिये उसका अन्त दुखपूर्ण होता है।

दुखांत में प्रायः यह दर्साया जाता है कि संसार एक अपूर्ण स्थान है, जहाँ निश्चय की उत्तमता तथा सचाई, और हृदय की पवित्रता तथा ठोसपन से बहुधा अनुचित लाभ उठाया जाता है। जहाँ अन्याय प्रचलित तथा सर्व-मान्य है, वहाँ दुख उन्हें मिलता है, जिन्हें सबसे कम इसका भागी होना चाहिये। और क्योंकि साधारण जीवन में दुख, सुख की अपेक्षा, कहीं अधिक परिमाण में विद्यमान है, इसलिए साधारण प्राणी दुख में से भी एक प्रकार का रस प्राप्त करके उठते हैं; जो केवल कलात्मक रस ही नहीं देता, अपितु आत्मा को भी और कड़ा तथा धैर्यवान बनाता है और मनुष्य इस ज्ञान की सृभ में जागता है कि संसार को, जैसा वह बुरा भला है, हँसकर स्वीकार कर लेना चाहिये, क्योंकि

पर निरपराध, मारा जाता था, केवल किसी देवी-देवता की प्रसन्नता के लिये; इसी प्रकार आरम्भ में भावी के खिलौने बनाकर दुखान्त में नायक की हत्या करवाई जाती थी।

दुःख तो चराचर में व्याप्त है और जब घर में इस आग की ज्वाला धधक रही हो तो किसी को विशेषतया दुःखित नहीं होना चाहिये ।

यूनानी दार्शनिक अरस्तू के कथनानुसार, “दुःखांत अनुकृति है उस आघात की, जो गंभीर है, चिरंतनशील है, जो अपने आपमें संपूर्ण है, और जो महान है, विशाल है ।” इसीलिये अपने दुःखांत की तुलना महाकाव्य के साथ की है, क्योंकि उसके मत में “महाकाव्य भी एक प्रकार की अनुकृति[॥] है । इसकी रचना भी उसी प्रकार की शैली में होती है, और गम्भीर घटनाओं के साथ सम्बन्धित होती है ।” तभी तो अरस्तू के दुःखांत की भाषा को काव्यमय भाषा की तरह भावों से रंगी, उत्तम, असाधारण बनाने पर जोर दिया है और अच्छी तरह समझाया है कि दुःखांत के पात्रों की विशेष पदवी अथवा महत्त्व होना चाहिए, ताकि सकल चराचर उनके दुःख का साक्षीदार, बन सके ।† सामान्य मनुष्यों के दुःख-

॥ अरस्तू ने समूचे साहित्य को ही एक प्रकार की अनुकृति अथवा स्वांग कहा है, और इसका कारण यह दिया है कि साहित्य, प्रकृति (जो वास्तव पर दिखायी देती है) को कला द्वारा शब्दों में, इस प्रकार रूपमान करने का नाम है कि वास्तव की आन्ति हो । पर वस्तुतः वह वास्तव नहीं होता, केवल अनुकृति ही होती है, जो कलाकार के हृदय पर, पहले प्रभाव बनकर स्थिर होती है और इस प्रभाव को वह और भी समीचीन संबंधित संकेतों, दृग्गित्तों आदि द्वारा गाढ़ा करता है ।

† दुःखान्त को इसीलिये प्राचीन आलोचना ग्रंथों में इतिहास भ कहा गया है । (देखिये, गेवनीनी की पुस्तक, Tragedy as

सुख, अरस्तू के मत में, संसार को यूँ ही नहीं भंभोड़ते, प्रभावित करते, जितने विशिष्ट, महान पुरुषों के । इसीलिए वह दुःखांत पात्रों के नैतिक निर्णयों, भावों को अति महत्वपूर्ण समझता है और उनकी प्रतिभा को नेतृत्वपूर्ण कहता है, जो किसी एक नियत समय पर वही कहते हैं जो ठीक उसके उपयुक्त होता है ।

अरस्तू ने दुःखान्त में, “शारीरिक दुःख, अशांत मृत्यु, अथवा अन्य किसी ऐसी दुःखपूर्ण, नाशात्मक घटना” को आवश्यक बताया है । परन्तु वह यह भी कहता है कि इस दुःख के द्वारा दर्शक में अनावश्यक पराजयवादी भाव नहीं जमाने चाहियें, अपितु अनुकंपा तथा भय के भाव उभारने चाहियें । इसलिए अरस्तू ने सिकांरिश की है कि दुःखान्त का नाटक ऐसा होना चाहिए, जो न तो असाधारण रूप में उत्तम तथा अच्छा हो और न अति निम्न और नीच ।

History) क्योंकि इसमें उन महापुरुषों, विशेषतया राजाओं, रानियों आदि की जीवन-कथाओं का वर्णन करने पर जोर दिया जाता था, जिनका ज्ञान दर्शकों को खूब अच्छा होता था और इस प्रकार दुःखान्त की नैतिक शिक्षा उनके हृदय पर पूर्णतया अंकित हो जाती थी । यह ज्ञान देकर कि जब इतने महान पुरुषों के साथ यह कुछ हुआ है तो सर्व-साधारण के साथ तो इससे भी बुरा हो सकता है । इस तरह उनके हृदय में अनुकंपा तथा भय उत्पन्न होता था । दुःखान्त को, इसके प्रतिकूल, “नित्यप्रति की घटनाओं की एक कल्पना” कहा जाता था (देखिये, हिलगर्ड) । परन्तु साधारण मनुष्य के ऊँचे उठने तथा दुःखान्त में भाग लेने के कारण यह सिद्धान्त किरकिरा हो गया ।

क्योंकि इन दोनों प्रकार के मनुष्य हमारे हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न नहीं कर सकते । पहली अवस्था में, हम केवल भयभीत होते हैं कि इतने अच्छे मनुष्य को इतनी पीड़ा क्यों भेलनी पड़ी । दूसरी अवस्था में हम सुखित होते हैं कि अच्छा हुआ, पापी को किये का फल मिला । अरस्तू कहता है कि दुखान्त के नायक को, “ऊँचे स्तर का, विशेष मनुष्य होना चाहिए । परन्तु वह अपनी ही किसी दुर्बलता के कारण नीचे गिरे, और यही उसके दुःख का कारण है ।” अरस्तू यह भी कहता है कि “दुखान्त में चित्रित पीड़ा; अनुकम्पा, तथा भय इसलिये उत्पन्न होता है, क्योंकि इन दोनों के जन्म से दर्शक के हृदय को एक सहारा सा हो जाता है ।” वैसे किसी दुःख पर रोने से अथवा अनुकम्पा जगाने से हृदय की अशांति दूर होती है । अरस्तू का यह कथन मनोविज्ञान-विशारद ठीक मानते हैं और किसी रोग का होम्योपैथिक निदान भी यही बताया जाता है कि औषध ऐसी देनी चाहिए, जो रोगी के चिन्हों के अनुकूल हो और जो केवल शरीर में वही चिन्ह उत्पन्न कर सके । और क्योंकि साधारण मनुष्य में अनुकम्पा और भय की भावनायें उसके हृदय में एक खिंचाव जैसा उत्पन्न किये रखती हैं, इसलिए जब दुखान्त हमारे हृदय में यही भावनायें उपजाता है, तो हम एक प्रकार की शिथिलता अनुभव करते, मानसिक खिंचाव को कुछ कुछ दूर कर लेते हैं ।

इसलिए अरस्तू घटनाओं के स्वाभाविक होने तथा एक दूसरे में धीरे धीरे विकसित होने पर जोर देता है ताकि कहानी का

आदि, मध्य और अंत विशेषतया स्पष्ट हो और दर्शक को दिखायी दे कि जो पहले अच्छा था, वह कैसे बुरा होकर प्रकट हुआ, या जो आगे जाना ही नहीं जा सका था, अंत में वह कैसे अच्छी तरह जाना गया। इस स्वाभाविकता में से, जो अनुकम्पा तथा भय की भावना फूटती है, वही अरस्तू के मन में, समीचीन तथा वास्तविक है।

चाहे अरस्तू की इस सारी टीका-टिप्पणी का सम्बन्ध प्राचीन यूनानी नाटक से है, तब भी उसका दुखांत के पात्रों के नैतिक निर्णयों के महत्व पर जोर देना और उनकी प्रतिभा पर (जिसके सहारे वे किसी समय वही भाषा बोलते हैं, जो समयोचित तथा समीचीन होती है) प्रत्येक काल के नाटक में से ढूँढे जा सकते हैं। उसका कथानक की एकता तथा स्वाभाविकता पर जोर देना भी, अब तक स्वीकार किया जाता है। अरस्तू के बाद, दुखांत के स्वरूप में कई परिवर्तन हुए हैं, पर उसका सिद्धान्त बहुत हद तक ज्यूँ का त्यूँ प्रचलित है। परम्परापूजक नाटक, इसी सिद्धान्त का विकास करता है।

सोलहवीं शताब्दी में अरस्तू के सिद्धान्त में फ्रांसीसी तथा अन्य यूरोपीय नाट्यकारों तथा प्रमाताओं ने कुछ वृद्धि की, जैसे समय, स्थान तथा कार्य की एकता की*, परन्तु उस समय शेक्स-

* समय, स्थान तथा कार्य की एकता का अर्थ यह है कि नाटक को घटना चौबीस घंटों से अधिक पर फैली हुई न हो; नाटक में दिये स्थान ऐसे हों, जहाँ इतने समय में पहुँचना सम्भव हो;

पीयर तथा स्पेनिश रंगशाला ने समय तथा स्थान की एकता को तिलांजलि दे दी, और कथानक की एकता का भी कम ही ध्यान रखा। इकहरे की अपेक्षा दोहरे कथानक, एक साथ चलते अथवा विरोध में ग्रथित। दुःखांत तथा सुखांतक घटनाओं का सम्मिश्रण कर दिया गया। जैसे दुःखांत सुखांतक (Tragic-comedy) में अथवा रोमांस में। इसके बाद समय, स्थान तथा कार्य की एकता का भी ध्यान कम ही रखा गया। हाँ, यह अब सभी स्वीकार करते हैं कि दुःखांत की घटनाओं का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बंध होना उचित है और वह स्वाभाविक तौर पर कथानक से ही उभरनी चाहिये।

अठारहवीं शताब्दी से दुःखांत में सामान्य स्तर के पात्र भी सम्मिलित किये जाने लगे। दुःखांत का नायक प्रारम्भ में किसी अत्युत्तम वर्ग का पुरुष होता था। अब वह निम्नतम सामाजिक स्तर का मनुष्य हो सकता है; परन्तु उसमें अब भी, किसी विशेष बड़प्पन का होना अपेक्षित है, जो जन्म अथवा पदवी का नहीं, अपितु आत्मा और प्रतिभा का होना चाहिये। इसी एक परिवर्तन ने नाटक में वास्तविकता का रंग भर दिया है और सामाजिक संघर्ष के दुःखांत को जन्म दिया है। यह ट्रैजेडी अब हमारे जीवन के अत्यंत समीप की है, क्योंकि इसमें हम अपने स्तर के लोगों, उनके दुख-क्लेशों, वातावरण, संघर्ष, आदि को पहचान कर और दुःखान्त को सुखान्त में मिलाया न जाये, साथ ही नाटक का कथानक इकहरा हो।

अधिक सामीप्य का रसास्वादन कर सकते हैं, और साथ ही यह भी जान सकते हैं कि समाज अथवा उसकी आर्थिक अवस्था को (जो वर्त्तमान युग के मनुष्य को ट्रैजेडी का मूल कारण है) कहाँ कहाँ पछाड़ा जा सकता है । मनुष्य कहाँ कहाँ पर दुर्बल है और क्यों; और समाज के कौन कौन से स्थल ऐसे हैं, जहाँ समाज निर्बल हो चुका है, और जहाँ समाज पर मर्मभेदी प्रहार किया जा सकता है । अब ट्रैजेडी का अन्त मृत्यु से नहीं होता; दुःखान्त के पात्र को जीवित छोड़ देना ही भावी के प्रकोप में और वृद्धि करना है ।

यूनानी नाटक में नियति को दुःखान्त का कारण स्वीकार किया गया था; नियति, जो अंधी तथा बहरी है; जिसके आगे सभी धूलिसात् हो जायेंगे, और किसी की पेश नहीं जावेगी; उसके आगे सिर झुकाना ही, जीवन का सुख प्राप्त करना है । उसके साथ टक्कर लेना, आत्महत्या है । अहंकार, जो देवताओं को भला नहीं लगता, दुःखान्त का एक और कारण था, जिससे देवता अप्रसन्न होकर शाप दे देते, पीढ़ियों तक, मनुष्य को दुःखित करते रहते थे । शेक्सपीयर के नाटकों में मनुष्य की कोई अपनी निजी मानसिक न्यूनता, उसकी ट्रैजेडी का कारण बनी, जैसे अनिश्चितता, अहंकार, अनुचित निर्णय, अनियन्त्रित इच्छायें आदि । परन्तु वर्त्तमान समय में समाज, उसकी पैतृक परम्परा, उसके वहम, कानून, प्रतिनिधि आदि को दुःखान्त का कारण माना जाता है । इनके सिवाय पैतृक प्रकृति (जैसे मदिरा के लिये निर्बलता, कोई पैतृक

रोग, अथवा शारीरिक भाव तथा मनुष्य की पशुप्रकृति जैसे अतियंत्रित मौन-तृष्णा) भी दुखान्त का कारण बन बैठी, जिन्हें वर्तमान समय में प्राचीन नाटक का भावी वाला स्थान प्राप्त है । मनोवैज्ञानिक गवेष्टणा ने अचेतन तथा चेतन अंतःकरण के पारस्परिक संघर्ष को दुखान्त का एक और कारण बना दिया है । इसी प्रकार ही अचेतन अंतःकरण की समाज अथवा अन्य व्यक्तियों के साथ टकर भी दुखान्त का विषय बन चुकी है । और सबसे अंत में, वर्गसंघर्ष की ताज़ा गर्मी ने दुखान्त को पूँजी तथा श्रम के संघर्ष का एक नया विषय प्रदान किया है ।

प्रमाता ब्रूनेटेअर तथा रूसी नाट्यकार चेखोव ने दुखान्त के परस्परनिरोधी पक्ष प्रस्तुत किये हैं । चेखोव ने अपने दुखान्तों में मनुष्य की पराजय, उसके हृदय की शिथिलता तथा घिसाई और निश्चय की दुर्बलता और पतन के हाथों होती दिखायी है । ब्रूनेटेअर इसके प्रतिकूल, मनुष्य की निश्चयशक्ति को, जिसमें से समस्या उत्पन्न होती है, दुखान्त का कारण मानता है, “मनुष्य चाहे, प्रकृति की शक्ति के साथ जूझ रहा हो, चाहे अलौकिक रहस्यवादी शक्तियों के साथ, जो हमें सीमा में रखती हैं, और नीचा दिखाती रहती हैं, अथवा सामाजिक नियमों, किसी अन्य व्यक्ति, अपने आप के साथ अथवा अपने आवेष्टन की मूर्खता, वहम, आदर्श और अभिरुचि आदि के विरुद्ध, उसके दुखान्त का कारण उसका अपना हृदय है, जो कोई समस्या खड़ी करके, अपनी

पराजय करा लेता है ।” उसके विचार में प्रारब्धवाद को दुखान्त में स्थान देना उसे अविश्वसनीयता में रंगना है ।

परन्तु मेटर्लिक जैसे प्रतीकवादी तथा कृत्रिम रोमांचक लेखकों ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में प्रारब्ध को वास्तविकता के विरुद्ध, फिर दुखान्त का कारण बना दिया; और साथ ही आघात को नाटक से निकाल दिया, क्योंकि उनके मत में जीवन का दुखान्त अंग तब ही यथार्थ रूप में उभरता है, जब मनुष्य का तथाकथित शारीरिक संघर्ष, दुख और खतरे दूर हो जाते हैं । मेटर्लिक तो यह भी चाहता था कि मनुष्य के मानसिक उतार चढ़ाव भी नाटक में न प्रदर्शित किये जावें; और हमारी अभिरुचियों का सारा केन्द्र उस व्यक्ति पर आकर जुड़ जावे, जो संपूर्ण ब्रह्मांड के सम्मुख अपने अनावृत एकाकीपन में खड़ा है ।

परन्तु बीसवीं शताब्दी में, जो वर्ग तथा प्रादेशिक युद्धों में व्यापृत रही है, और इसके साथ ही प्रतिभा तथा भावना के संघर्ष में भी, दुखान्त ने अरस्तू की यह बात पक्की तरह गिरह में बांध ली है कि प्रत्येक भावी का कारण नाटक के कथानक में से ही विकसित होना चाहिये । दार्शनिक हेगेल ने दुखान्त की उत्तेजक शक्ति का कारण, उसके भीतरी “दुखांतक संघर्षण” को बताया है । वह कहता है, दुखांत में आघात इस प्रकार आगे बढ़ता है कि मनुष्य के निश्चय, और उसके आस-पास के मनुष्यों, सामाजिक अथवा प्राकृतिक शक्तियों में कोई दुखद असामञ्जस्य विद्यमान होता है ।” यही सिद्धान्त मार्क्सवादियों का भी है, ज

मनुष्य के दुःखों का कारण आर्थिक तथा वर्ग संघर्ष में ढूँढते हैं । इन्होंने एक एकाकी व्यक्ति के स्थान पर समष्टि को अपने नाटकों का पात्र बनाकर एक अधिक चौड़े तथा महान पट पर दुःखांत को चित्रित किया है ।

इस प्रकार दुःखांत का क्षेत्र धीरे धीरे विस्तृत होता गया है, यहां तक कि नाटक के प्रमाता, ल्यूकस के मत में, “दुःखांत केवल एक गम्भीर रचना है, जो क्या आघात और क्या भाषा की गम्भीरता द्वारा किसी जीवन-दृश्य को प्रस्तुत करती है ।” परन्तु यह तुलना बिल्कुल ठीक नहीं । जीवन की कितनी ही गम्भीर और चितनशोल घटना में हैं, जो दुःखान्त नहीं, क्योंकि एक तो उनमें से प्रत्येक में विषय की वह महानता और विशालता नहीं और न पात्रों में कोई मानसिक श्रेष्ठता है, न ही नाटक में ऊँचा उठाने, झंझोड़ने की शक्ति है । वर्तमान युग के कई नाटक ऐसे हैं, जो न तो इतने हल्के और रसदायक हैं कि सुखान्त बन सकें; न इतने गम्भीर और विशाल हैं कि दुःखांत कहला सकें । वे दो नावों में पाँव पसारे बैठे हैं ।

चाहे जैसे कि हमने पीछे संकेत किया है, लौकिक रुचि को, दुःखांत के लिये पसन्द करना, ठीक नहीं, परन्तु धर्म, लोकाचार, समाज, पूँजीवाद, कानून आदि ने मनुष्य की आत्मा को यूँ गिरवी सा रख लिया है कि वह स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने के भी असमर्थ है । प्रत्येक पग वह फूँक फूँक कर रखता है, कहीं कोई प्रचलित प्रथा पद्धति, रीति-रिवाज, विश्वास, दैवी शक्ति, अथवा सामा-

जिक दानव उस पर अप्रसन्न हो जाय । जीवन के अनिश्चित तथा तीव्र प्रतियोगिता वाले रोटी के संघर्ष ने उसकी कलात्मक चेतना को इतना दबा दिया है कि वह जीवन में प्रसन्नता तथा सुख ढूँढने के स्थान पर आँसुओं को ढूँढता फिरता है । हंसता हंसता, एकदम चुप हो जाता है, कुछ आँसू गिराता, आकाश के आगे सिर झुकाता है, कहीं उसकी हँसी किसी देवता का क्रोध न जगा दे और उसके लिये अगली घड़ी ही और दुख न भेज दे, कहीं समाज को उसमें अहंमन्यता की गन्ध न आ जाये, कहीं कल आज से अधिक बुरा सिद्ध न हो । इस प्रकार मानव हृदय, अनजाने, अनचाहे, थर थर काँप रहा है, यह न पहचानता हुआ कि क्या हो रहा है ओर क्यों, और क्या होने वाला और किस कारण !

दर्शकों की ऐसी अवस्था में ट्रैजेडी का सर्वमान्य होना कोई अनहोनी बात नहीं । इसीलिये कई बार नाट्यकार अनावश्यक प्रशंसा तथा सफलता इकट्ठी करने के लिये दर्शकों के हृदय को करुणरस द्वारा बार-बार स्पंदित करता है; उसे बार बार भयभीत करता है, मृत्यु का गाढ़ा भयावह चित्र खेंचकर; जीवन को यूँ थका, मार कर, कि किसी भी प्रयत्न के लिये उठती हमारी आकांक्षा, पहले ही पराजय मानकर बैठ जाय । परन्तु यह कला उत्पन्न करना नहीं; जीवन के साथ द्रोह करना है, जीवन के खीर सागर में विष घोलना है । ट्रैजेडी को इसलिये, भावों को उभारते समय, भावुक कभी नहीं होना चाहिये, न ही सनसनी अथवा विलापमय; मृत्यु अथवा शोक को अति भयानक बनाकर मानवहृदय को थका, निराश कर

देने वाली । यदि दुख आयें तो ऐसे कारणों द्वारा, जो केवल अलौकिक अथवा भावी से सम्बन्धित न हों; अपितु वे कहानी में से विकास प्राप्त करें, किसी ऐसी मानसिक अथवा सामाजिक न्यूनता के कारण, जिसे ज्ञान तथा संघर्ष द्वारा दूर किया जा सके । यदि मृत्यु अथवा शोक का प्रदर्शन करना हो, तो मानवात्मा को शक्ति देने के लिये, उन्हें हँसकर स्वीकार कर सकने के लिये, ये सब इस प्रकार दरसाये जाने चाहियें कि हमारे हृदय में से मृत्यु का भय दूर हो जाय और हम सम्मान पूर्वक, वोरतापूर्ण, अधिक शांत, सुखद और सार्थक जीवन जी सकें ।

यह इसी प्रकार हो सकता है कि एक तो प्राचीन यूनानी नाटक की तरह भावी और अन्य पराजयवादी अलौकिक शक्तियों को दुखान्त में से बिल्कुल ही निकाल दिया जाना चाहिये, ताकि मनुष्य को, जो कहीं दुख प्राप्त हो, तो वह उसके शारीरिक कारण ढूँढ सके और उनका निवारण कर सके । किसी एक पात्र की असफलता तथा पराजय बाकी हजारों, लाखों को और इतना बल तथा उत्साह दे कि वे उस समस्या से टक्कर लें, उससे जूझें, और यदि और कोई उपाय न रहे तो हंसते हुए बलिदान हो जायें, और बाकी संसार के लिये एक दृष्टान्त छोड़ जायें । ट्रैजेडी पढ़ सुन कर, यदि हमारे हृदय में, जी भर कर, हिलोर के साथ, रहने सहने के लिये, सौन्दर्य के लिये, प्रत्येक कठिन अनुभव के लिये उत्साह उत्पन्न हो, तो उसकी तह में कोई सार्थक, रचनात्मक, महान मूल विषय है, जिसके लिये मनुष्य ने इतने संकट भेले और कई बार

मृत्यु का भी आलिंगन किया; यदि दुख तथा मृत्यु के दृश्य मानवात्मा को हर टकर के लिये अधिक बलवान और कड़ा बनायें, और आत्मा की प्रत्येक कठिनाई पर विजयी हों, चाहे शारीरिक तौर पर पराजय भी हो जाय, तो वह ट्रैजेडी एक महान कृति होगी ।

इसलिये, कोई साधारण विषय, रोग, निज-प्रेम, दुर्घटना, निज-तृष्णा—पूँजी अथवा कब्जे की, दुखान्त का मूल-विषय नहीं होनी चाहिये, अपितु वह जिसमें मनुष्य किसी भाव द्वारा प्रेरित, प्रभावित, उत्साहित हुआ हो, जिसका प्रभाव समूची जाति अथवा उसके बहुत बड़े भाग पर पड़ना हो, और जिसने धरती-आकाश को भंभोड़ देना हो, दुखान्त का मूल-विषय बनना चाहिये, जिसका अंत चाहे एक, दो, चार, बीस के लिये दुख में निकले, तब भी संघर्ष का विशाल महत्त्व, दृढ़-निश्चयता, मानवात्मा की प्रधानता, इस प्रकार हमारे हृदय पर अंकित हो जाये कि हम किसी महानता के शिखर पर पहुँच जायें ।

यह आवश्यक नहीं कि यह संघर्ष किसी राजा, महाराजा अथवा किसी महापुरुष का हो, न ही इसके लिये समय, स्थान तथा कार्य की एकता अपेक्षित है, न नियति का प्रकोप गिराकर मानव-हृदय को त्रस्त करना ही अपेक्षित है; न ही दुखान्त में हास्य के किसी दृश्य अथवा वाक्य का उपयोग विवर्जित है, यदि उसे नाटक के कथानक में गूँथा जा सके, और या वह मूल आशय को रस द्वारा और भी तीक्ष्ण बनाने में सहायक हो, परन्तु

उसका मूल आशय केवल एक ही होना चाहिये—मज्ञान, तत्त्वपूर्ण, तूफान चलाने वाला, भूकंप छेड़ने वाला, युग-परिवर्तनशाली, आत्मा को झंझोड़ने वाला, जिसके द्वारा बुभुक्षा हुआ जीवन अंगार भी, मानव-जाति भी एक बार फिर ऐसी प्रदीप्त हो उठे कि संपूर्ण चराचर आलोकित हो जाये ।

ट्रैजेडी का जहाँ विषय महान हो, वहाँ पात्रचित्रण भी विशाल पट पर चित्रित होना चाहिये । मुख्यपात्र, आदर्शवादी, जीवन-मरण, दोनों के लिये तत्पर, योद्धा, वीर रस पूर्ण, सामान्य स्तर से ऊँचे, परन्तु एकदम हमारे जैसे, भावुक-हृदय, कथोपकथन करते, परन्तु हमारी, अपनी भाषा में (कविता अथवा असाधारण भाषा में नहीं) तब भी ऐसी परितृप्ति से, ओज-पूर्ण ढंग से कुछ कहते, करते हुए, कि प्रभावित करें, जीने का उत्साह भरें, चाहे वे स्वयं मृत्युमुख में ही क्यों न हों । जिस ट्रैजेडी में दुख तथा मृत्यु रमणीय और आमंत्रण-योग्य नहीं, वह ट्रैजेडी नहीं, केवल एक नाशकारी रूदन हास्य है । बल्कि इससे भी निकृष्ट पदार्थ है ।

और प्रत्येक ट्रैजेडी का अपना वातावरण होता है, कुछ विश्लेषणात्मक, गंभीर, भारा (पर सांस रोकने वाला नहीं, अपितु ऐसा, जैसे आत्मा नई नई किसी महान आदर्श के पीछे जागी हुई व्यग्र होती है), दिल को हिलाने वाला (पर विलापजनक नहीं), अस्पष्ट (पर काले अंधेरे जैसा नहीं), रक्तवर्ण (परन्तु भयावह नहीं, अपितु बलिदान की आशा से दीप्त करता हुआ, प्रेरणा देता, जीवनदान करता) किसी जटिल समस्या अथवा दुखांतक

टकर में फँसा हुआ (परन्तु अपने आप मोल ली हुई, किसी रचनात्मक, लौकिक आदर्श की पूर्ति के लिये, इसीलिये हम में आशा का संचार करती, निराशा में डुबोती नहीं) ।

इस वातावरण को तीव्र करने के लिये नाट्यकार कई बार मुख्य कथानक के अतिरिक्त एक सहायक कथानक को उसके विषय की तुलना में अथवा उसी के साथ ला खड़ा करता है और इस प्रकार मूल विषय को और भी चमकाता है; प्रारम्भ में आह्लाद, शांति अथवा स्थिरता दर्सा कर यकायक दुःख, व्यग्रता, संघर्ष में कहानी को बदल देता है, रस की तुलना द्वारा दुःख को और भी तीव्र, तीक्ष्ण बना देता है; इसी प्रकार ही हास्य रस के दृश्य भी यदि दुःखांत में कलात्मक ढंग से जड़े जायें, और उनका कहानी के साथ संबंध स्वाभाविक तौर से जुड़ता हो, तो उनका प्रभाव भी ट्रैजेडी को और गाढ़ा करने में प्रकट होता है । हास्यपूर्ण दृश्यों में परिवर्तन ऐसी कुशलता से किया जाता है भटपट एक के बाद दूसरा रस हमें प्रधान रस का आनन्द अधिक गाढ़ा करके देता है । इसी प्रकार भरे-पूरे संघर्ष, रक्तपात वाली मुठभेड़ों के दृश्यों के बाद कुछ स्थिरतापूर्ण, शांतिमय, व्यवस्था के चित्र आगे-पीछे यूँ जोड़े जाते हैं कि हृदय की नसें हर घड़ी कसी न रहें; ऐसा करने से ट्रैजेडी का प्रभाव अतिदुःखद, नाशकारी, विलापपूर्ण, हृदयवेधक, कुछ ऐसा उत्पन्न होता है मानों नसें टूट जावेंगी । कुशल कलाकार इसीलिये रस को तीक्ष्ण, धीमा, मद्धिम, फिर

तोखा, गाढ़ा, गहरा करते रहते हैं, ताकि एक रस के अनावश्यक भार से, हृदय का आनन्द कहीं नष्ट न हो जाये ।

जैसे कथानक में मुकाबला, उतार चढ़ाव, सफेदी, कालिख, बदलती हुई संपूर्णता में गूँथे जाते हैं, इसी प्रकार पात्र-चित्रण में भी, तुलना का प्रयोग किया जाता है । मुख्य पात्र का न केवल अपने साथ संघर्ष होता है, अपितु उनके साथ भी जो उनके प्रतिद्वन्द्वी हैं भावों में, विचारों में अथवा शारीरिक तौर पर । प्रत्येक पात्र को, कुशल कलाकार, इस प्रकार, ऐसे विशेष रंग में रंगता है कि उनका एक दूसरे से भेद, विशेषता, स्पष्ट होकर प्रत्यक्ष हो जाती है । पात्र एक दूसरे के इस प्रकार प्रतिद्वन्द्वी होकर खड़े होते हैं, मानों उनका असामञ्जस्य अनादिकाल से चला आ रहा है और ऐसे ही चलता रहेगा । पात्रों के इस असामञ्जस्य में से नाट्यकार प्रायः कोई नैतिक उपदेश भी देना चाहता है । ऐसी परिस्थिति में उसके लिये आवश्यक है कि वह पात्र-चित्रण को यांत्रिक, कृत्रिमता की सीमा तक सामञ्जस्यहीन न बना दे; अपितु उतना ही जितना स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रतीत हो । नाटकीय व्यंग्य का जिक्र हम पहले कर चुके हैं । नाटकीय व्यंग्य अवसर का भी हो सकता है, शब्दों का भी, दोनों का इकट्ठा भी । जब पात्र अनजाने और सहज स्वभाव ही कोई ऐसी भविष्यवाणी बोलता है, जिसके परिणाम का उसे पता नहीं होता (परन्तु दर्शक जानते हैं कि उसका अन्त पात्र के लिये क्या होगा) अथवा वह ऐसी अवस्था में होता है, जिनका भविष्य में होने वाली घटनाओं के साथ तीव्र विरोध

होता है, तो जब वे घटनायें होती हैं, हम उनके प्रकाश में उस पात्र के भूतकाल पर पुनः विचार करते, अधिक तीव्रता से उस नाटक का रसास्वादन करते हैं। इस तरह ही नाटक में संगोपन और आश्चर्य के अंश द्वारा तुलना की भावना उत्पन्न की जाती है। एक रहस्य होता है, जो अंत तक नहीं खुलता; प्रतीत होता है कि कुछ होगा, परन्तु होता नहीं अथवा इस तरह होता है कि हम चकित रह जाते हैं। यदि यह विस्मय और संगोपन स्वाभाविक प्रतीत हों और अन्त में स्वाभाविक रूप में ही इनका विश्लेषण हो, तो यह रस में बहुत तोक्षण वृद्धि करते हैं। विशेष वाक्यों, शब्दों की बार बार आवृत्ति, पृथक् पृथक् पात्रों के मुँह से भी, वातावरण को और प्रभावपूर्ण बनाने में सहायक होता है।

परन्तु जैसे कि हमने कहा है, ट्रैजेडी का वातावरण चाहे विश्लेषणात्मक, विशिष्ट, गम्भीर, प्रभावपूर्ण होना चाहिये, तब भी उसे हमारे हृदय पर पीड़ा, निराशा, शिथिलता, अशांति आदि के नाशकारी भाव अंकित करने का कोई अधिकार नहीं, क्योंकि ऐसा करने से, मानवीय आदर्शों के उपयुक्त नेतृत्व के स्थान पर उनका निरादर और मृत्यु होगी।

७

सुखांत एक इस प्रकार का नाटक है, जो सहानुभूति और हास्य के आवेष्टन में बँधा, नाटकीय समस्या के ताने को ऐसे तनता है कि वह मुख्य पात्रों के लिये अन्त में खुल जाता है और जीवन को आशा और सुखमय प्रभाव में रंग देता है।

इसलिये सुखांत मानव की पीड़ा अथवा उसके दुःख पर हसता नहीं, न शारीरिक कुरूपता, अंगहीनता अथवा निर्धनता पर, अपितु उसकी भूलों, साधारण कठिनाइयों, मूर्खताओं, चतुराइयों, चरित्र, उलारों आदि पर; जिनमें ये हास्य की सामग्री ढूँढी जा सकती है। सुखांत तब भी हँसाता है जब जीवन को वह भरपूर, सुखद, सम्मानित देखता, उसपर बलिहारी जाना चाहता है। सुखांत का मुख्य उद्देश्य हमारे अंदर हास्य उत्पन्न करना है, चाहे केवल हमारे होंठ खिलाने के लिये अथवा कोई कठोर बात सुनने के लिये।

सुखांत का लेखक भी उन्हीं महान और विशेष समस्याओं को चित्रित कर सकता है, जो प्रायः दुखांत के हिस्से आती हैं। और अंतर केवल यह है कि वह पदार्थों के केवल हास्यमय भाग को देखता, प्रकट करता है, अंत उसका भी दुखांत की तरह, हमें किसी दृष्टिकोण का परिचय कराना हो सकता है। परन्तु उसका ढंग पृथक्, विशिष्ट होगा। वह भी कोई समस्या खड़ी करके, किसी नाटकीय तुलना द्वारा (जो उसके कथानक का मूल विषय होती है) नाटकीय रूप प्रदान करता है; परन्तु समस्या को वह इतना जटिल नहीं बना देता कि अंत में उसका समाधान ही न हो सके। वह व्यंग्य द्वारा वही कार्य संपन्न कर लेता है—अपने मूल विषय को स्पष्ट करने का—जिसे दुखांत दुःख क्लेश में डाल कर, मृत्यु-मुख में पहुँचा कर, पूरा करता है। सुखांत के लेखक का संसार प्रकाशमान, आलोकित, हास्यमय है। उसमें दुःख भी होते हैं, परन्तु दृष्ट जाने के लिये। हास्य कई बार गहरा वार भी करता है।

और निम्नकोटि की अत्याचारी भावना का द्योतक प्रतीत होता है, परन्तु कुछ समय के लिये ही। सुखांत की समस्या दर्शकों को हास्य, आह्लाद की सामग्री देती है, उस पर रोने-धोने, अस्थिर, अधीर होने की प्रेरणा नहीं देती। इसीलिये इसका निर्वाह नाट्य-कार के लिये और भी कठिन है, क्योंकि मनुष्य को रूताना बड़ा सहल है; उसे गुदगुदी करनी, इस प्रकार कि न केवल उसका तनाव ढीला हो जाये, बल्कि उसे किसी नवीन ज्ञान की प्राप्ति भी हो, कलाओं की संपूर्ण चतुरता की अपेक्षा रखता है।

सुखांत शब्दों का भी हो सकता है; घटनाओं का भी। पहली प्रकार, हँसी, ठट्ठा, व्यंग्य, नोंक-भोंक, शब्दों के जोड़-तोड़, द्व्यर्थक शब्दों के प्रयोग, व्यंग्य आदि पर निर्भर होती है। दूसरी प्रकार की उत्पत्ति ऐसी घटनाओं तथा पात्र-चित्रण में से होती है कि वह अपनी अद्भुतता तथा विस्मयपूर्णता द्वारा हमें चकित करते, हँसाते, और साथ ही किसी आदर्श के लिये उत्साहित करते जाते हैं। सुखांत के श्रेष्ठ कलाकार हमें एक ही रचना में, दोनों विधियों का उपयोग करके, हमें दुगुना रस देते हैं। और क्योंकि एक युग का हास्य और सामाजिक कठिनाइयाँ अथवा स्वभाव दूसरे में बदल जाती है, इसलिये किसी समय के सुखांत का रसास्वादन करने के लिये उस युग के साथ परिचय अपेक्षित है। दुखांत में ऐसा नहीं होता। इसीलिये वह प्रत्येक युग में सर्वप्रिय रहता है।

संस्कृत सुखांत का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, जिसमें किसी राजा की प्रेम-कथा का चित्रण होता था। इसमें, बीच बीच में विदूषक की नायक के साथ नोंक-भोंक हास्य की सृष्टि किया

कातो थी। अवसर इतने हास्य-पूर्ण नहीं होते थे, जितने वे विस्मयपूर्ण, गंभीर, परन्तु अंत उनका सुख में होता था और सत्य (जो राजा में रूपमान होता था) की विजय होती और बुराई को क्षमादान दिया जाता था। प्रकृति-चित्रण और प्रकृति और मानव की दुःख-सुख में साझीदारी और मेल, एक अनुपम सुखदायक प्रभाव, रस, सुख, शान्ति को हृदय पर अंकित करते थे। इसे रोमांचक सुखान्त भी कह सकते हैं। कालिदास इसका प्रसिद्ध लेखक है।

यूनान में अरिस्टोफेनीज़ (४०० वर्ष ख्रिष्टाब्द पूर्व) ने कोई पञ्चास के लगभग ऐसे नाटक लिखे थे। जिनमें से ग्यारह अब भी उपलब्ध हैं। इनमें व्यंग्य है, एथेन्स के जीवन पर, विशेष व्यक्तियों पर, प्रचलित दर्शनशास्त्र पर, मुकद्दमावाजी, युद्ध, निर्धनता और वैभव आदि पर।

रोम में सुखांत के जन्मदाता प्लॉट्स और टेरेंस (२०० वर्ष ख्रिष्टाब्द पूर्व) हुए हैं; इन्होंने मानव प्रकृति के भिन्न-भिन्न अंगों—कृपणता, उदारता, अंधी अनुयायिता, भूठी स्वामिभक्ति, तथाकथित वीरता, अपनी मरजी के विवाह आदि के बारे में रचनायें लिखीं, जो अब तक सुखांत की सामग्री बनते आये हैं। रोम के सुखान्तों में यूनान के सुखान्तों की अपेक्षा दर्शनशास्त्र कम है, आघात अधिक है और इसके पात्र अधिक खरे हैं।

शेक्सपीयर (सोलहवीं शती ख्रि०) ने सुखांत को प्रेम के ताने के इर्द-गिर्द बना है और अनेक कठिनाइयों में घुमा फिरा कर, अंत में प्रेमियों का मिलन करा दिया है, परन्तु इसमें से प्रत्येक प्रकार के मनुष्यों, परियों के साथ, राजकुमारों और तिलिस्मी

रानियाँ के साथ, चंचु ज्ञानियों और वाग्विदग्धों के साथ, उपद्रवों निर्दोषों और आहें भरते प्रेमियों के साथ, गुदगुदी करते दार्शनिकों और मंदबुद्धि नौसिखियों के साथ हमारा परिचय कराया है। उसके सुखांत वाले पात्र, आघात और भाषा, दोनों में रोमांचक है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष को अतिशयोक्ति में इतना रंग देते हैं कि वह असम्भव प्रतीत होता है; परन्तु जो आवेष्टन और आधार वह किसी सुखान्त का बांधता है, उसमें सभी कुछ संभव दिखायी देता है। कथानक में हास्य के अवसर उत्पन्न करके भी वह हास्य-रस प्रदान करता है (जैसे वेष परिवर्तन, युगल भाइयों के कारण भ्रम आदि द्वारा) शब्दों में भी, जैसे भाषा का बिगाड़, व्यंग्य, हसी-ठट्टा आदि द्वारा। परन्तु उसके सुखांतमय जगत में संदेह, पीड़ा, निराशा भी बुनी मिलती है, चाहे अंत में वह सुख में बदल जाती है। शेक्सपीयर के समकालीन, बैन जान्सन ने अपने समय और जीवन के विशेष उलार प्रदर्शित करने वाले नाटक, यथार्थता के संयम में बांधकर प्रस्तुत किये हैं।

फ्रांस में मोलिये (सत्राहवीं शताब्दी खृ०) ने सामाजिक समस्याओं पर बाईस सुखांत लिखे। यूनानी और रोमन सुखांत लेखकों की तरह ये भी हमें “मध्यम स्वर्ण-मार्ग” पकड़ने पर जोर देता है, भाव यह कि मनुष्य जीवन को एकरूपेण जिये, किसी एक भाग को उलार न दे। वर्तमान समय में इब्सन (नार्वे), चेखोव (रूस) तथा बर्नार्ड शा (इंग्लैंड) ने महान सुखान्त लिखे हैं। इब्सन ने पदार्थों को धरातल के यथार्थवादी ढंग में चित्रित नहीं किया, अपितु मानवप्रकृति के मानसिक पक्ष को सम्मुख रख-

कर । उसने सुखांत दुखांत को मिला दिया, क्योंकि उसके विचार में वर्त्तमान युग की सभ्यता की उधेड़बुन और सम्मिश्रण में कला को यूँ ही विभागों में बांटा नहीं जा सकता, जैसे जीवन को ।

इसलिये उसने जीवन का चित्रण कर दिया है, जैसे उसे वह दिखाई दिया, विरोधों, दुविधाओं से भरपूर । परन्तु उसकी कृति में एक व्यंग्य है (चाहे ठोस, एक ओर की शिक्षा नहीं है) जो हमें अपने आवेष्टन को एक बार फिर जाँचने, घड़ने की प्रेरणा देता है । चेखोव ने पूँजीवादी जीवन के कोढ़ को यूँ यथार्थ रूप में चित्रित किया है कि उसका सूक्ष्म चित्रण आश्चर्यचकित कर देता है । हमारे जीवन सम्बन्धी प्रत्येक प्रकार के उलार, धार्मिक, भावात्मक, प्रेमसम्बन्धी, सामाजिक, प्रथा परंपरागत, पूँजीवादी, साम्राज्यवाद-संबन्धी को उसने अनावृत किये हैं । उसका हास्य न केवल उसके आश्चर्यजनक व्यंग्यों में से उत्पन्न होता है (बहुधा तीक्ष्ण, कटाक्षपूर्ण, केवल मंद मंद हँसाने वाला) अपितु उसके उस व्यंग्य में से भी जो उसके सारे कथानक में बिखरा होता है, और कहानी के उस विस्मयपूर्ण क्रम में से भी, जिसके प्रत्येक मोड़ पर हम यूँ चकित होते हैं, जैसे हमें किसीने शारीरिक तौर पर पकड़ कर एक ओर से दूसरी ओर बिठाया होता है । इस कला द्वारा वह प्रायः समाजवाद की ओर पैर बढ़ाने और युक्तिसंगत जीवन बिताने की प्रेरणा देता है ।

इसलिये वर्त्तमान सुखान्त, प्राचीन सुखान्त से अधिक भिन्न नहीं । अनादिकाल से ही मानव के उलार उसके मनोरंजन को सामग्री बनते आये हैं, अब भी हैं, आगे भी रहेंगे । परन्तु सुखांत

दुखान्त दोनों जिस समय इस आदर्शको उजागर कर रहे हैं कि समाज का उत्तरदायित्व व्यक्ति के लिये कितना गुरुत्वपूर्ण है । इसलिये धीरे धीरे सुखांत के सभी प्रसिद्ध लेखक सामाजिक महत्व की समस्याओं के साथ जूझने लग गये हैं और कला को अनजाने “अच्छे, भले, कुछ नहीं” के लिये नहीं बरतते ।



ट्रैजेडी से कुछ नीचे नाटक का एक और रूप, गम्भीर नाटक (Tragi-comedy अथवा Serious Drama) है, इसमें जीवन के भारी पक्ष को चित्रित किया जाता है, चाहे उसकी पराजय नहीं दिखायी जाती । इसमें जीवन के उकसाने वाले भावों, नाटकीय परिस्थितियों और समस्याओं, विशेष अनुभवों, उत्तेजनापूर्ण घटनाओं आदि सब कुछ होता है, जो पात्रों पर अपना संपूर्ण प्रभाव डालता है, पर उन्हें नष्ट नहीं करता । ट्रैजेडी का संसार अपूर्ण, अधूरा है, और उसमें तानी के सुलभने से पूर्व ही पात्रों का अवसान हो जाता है । सुखांत का संसार रसपूर्ण, सुखप्रद है, समस्यायें वहाँ भी उत्पन्न होती हैं, पर हमें रसास्वादन होता है, वे हमें हँसाते हैं और किसी के चित्त को दुखाती नहीं । नाटक, इन दोनों के मध्य में है । इस नाटक का संसार एक गम्भीर स्थान है, जहाँ पदार्थ अवश्य बिगड़ते और टूटते हैं, परन्तु वह ऐसा स्थान भी है, जहाँ शिक्षा प्राप्त करके मनुष्य अपने कष्टों का निवारण भी कर सकता है । गम्भीर नाटक ट्रैजेडी की तरह हमारे हृदय को अवश्य भँभोड़ता है और उसी की तरह गम्भीर और ठोस होता है, उसका

अन्त चाहे दुःखमय न भी हो । उसका आशय सुखान्त की तरह सहानु-
भूतिपूर्ण और उदारचित्त होता है, चाहे उसमें हास्य का अभाव
ही हो । दुःखान्त में नाटकीय परिस्थितियाँ कहानी के मूल आशय
को ही विकसित करती हैं और उसी में अभिन्नरूपेण बुनी होती
हैं । परन्तु गम्भीर नाटक में से परिस्थितियाँ अपने आप में बड़ा
महत्व रखती हैं और हृदय पर समूचे नाटक से पृथक् होकर भी
अंकित हो जाती हैं ।

और जहाँ इसके उलट, कोई रचना गंभीर नाटक की नाटकीय
परिस्थितियों को सुखान्त की आत्मा में घोल दे, और उसका जोर
अधिकतर हास्यमय पक्ष पर हो, तो नाटक “सुखान्त नाटक”
(Comedy Drama) कहाता है ।

ये दोनों रूप—गंभीर नाटक और सुखान्त नाटक आधुनिक
रंगमंच पर सर्वप्रिय हैं और लगभग दुःखान्त और सुखान्त जितने
ही महत्वपूर्ण हैं ।

गीतिनाट्य (Opera) की बोलचाल प्राचीन नाटक की तरह
कविता में ग्रथित होती है और गंभीर एवं हल्के, दोनों पक्षों को
इस द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है । यह वार्त्तालाप गेय भी होता
है और बोला भी जा सकता है ।

परन्तु दुःखान्त और सुखान्त के कुछ एक निम्न रूप भी हैं,
जैसे, भाव नाटक (Melodrama), स्वांग (Farce) और
प्रहसन (Burlesque) आदि ।

भावनाटक में दुःखान्त वाली विषय की गंभीरता, कथानक की
स्वाभाविकता अथवा पात्रचित्रण का ठोसपन और यथार्थता नहीं

होती । गहराई के स्थान पर; यह जैसे हो सके, अपने उद्देश्य की सफलता ढूँढता है, सत्पुरुषों को पुरस्कृत करता, दुष्टों को दंड देता है । इसलिये यह स्वाभाविक है कि उसके पात्र सजीव, विशेष व्यक्तियों की अपेक्षा मनुष्यश्रणियों को प्रदर्शित करे । इसीलिये नायक को सदा पवित्र, वीर, चतुर, आकर्षक बनाया जाता है, इसी प्रकार नायिका को मधुरस्वभाव, सुन्दर, साहसी, नैतिकतापरायण दिखाया जाता है । दुष्ट सर्वदा अत्याचारी, परिशोध लेने वाला और दुराचारी होता है । नाटकीय परिस्थितियाँ ऐसी भयावह, असाधारण होती हैं कि कंपकंपी छेड़ देती हैं, बड़ी “मारो, काटो” होती है; रक्तपात भी कई बार होता है; परन्तु जीवन से दूर होने के कारण उसका सत्य हृदय पर जमता नहीं । प्रारम्भ में यह एक गीतिनाट्य की तरह आरम्भ हुआ; इसलिये अब तक दुःख की घड़ी में संगत संगीत भी पर्दे के पीछे, प्रभाव को गहरा करने के लिये साथ-साथ बजाया जाता है । अलौकिक शक्तियों ज्योतिर्विद्, शुक्रमैना, भावी, डाकनी आदि की वातावरण को प्रभावपूर्ण बनाने में सहायता ली जाती है । साथ ही चोरों, ठगों, उठाईगीरों, पाकिट-मारों, चोरबाजार के व्यापारियों की वास्तविकता तथा रोमांस को भी बीच में घुसेड़ा जाता है । इसीलिये इसकी लौकिक अपील सर्व-साधारण है ।

इसी प्रकार स्वॉग में भी । यह सुखान्त की अतिशयोक्ति है, जैसे भावनाट्य दुःखान्त का । यह भी जीवन से दूर की वस्तु है, केवल असंभव और असाधारण परिस्थितियों, कहानी और पात्रों के हाव-भाव और निकृष्ट हँसी ठट्ठों-द्वारा हँसाना, इसका उद्देश्य

है । घटनायें इस प्रकार भट-पट होती हैं, जैसे वर्षा होती है, क्रांति हो जाती है, पर यदि एक बार मान लिया जाय कि कहानी का आधार वैसा हो सकता है, जो ऊपर बताया गया है, तो उससे जो जो परिणाम निकलते हैं, वहाँ ही स्वाभाविक प्रतीत होते हैं । हंसी-ठट्टा, स्थूल शारीरिक कलावाजी से लेकर चतुर सीख तक हो सकता है । इसका तात्पर्य मनुष्य को किसी हास्यपूर्ण अवस्था में डालना है, जो दर्शकों को हँसा सके । इसकी सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह गठन में कितना मौलिक है और उस स्वाँग को, जिसे हास्य का कारण बनाया जा रहा है, कितनी कुशलता से निवाहा गया है । यह समाज या किसी व्यक्ति पर व्यंग्य हो सकता है और खुले, विस्तृत हास्य का विषय भी । इसी-लिये इसे प्लाटस, शेक्सपीयर, मोलिये आदि प्रसिद्ध नाट्यकारों ने अपनाया है ।

प्रहसन, एक प्रकार की अनुकृति, सीख है । कविता, उपन्यास, नाटक, दोनों में ही यह उपलब्ध हो सकता है । किसी रीति-रिवाज, संस्था, व्यक्ति, साहित्यिक कृति आदि की हास्यपूर्ण अनुकृति द्वारा उसकी खिल्ली उड़ाना, साधारण वस्तु को व्यंग्यात्मक गंभीरता द्वारा बड़ा करके प्रस्तुत करना, अथवा इसके प्रतिकूल, प्रहसन दृष्टांत हैं । प्रायः इसका उद्देश्य आलोचना अथवा व्यंग्य होता है । परन्तु यह इसी लिए हँसाती, रसदान भी करती है ।

ऐतिहासिक नाटक किसी बीते समय अथवा ऐतिहासिक व्यक्तित्व के आचरण का विकास करता है । इसका वातावरण इसीलिए गंभीर होता है और वास्तविक रंगों को हल्का, गाढ़ा

करने के लिए कई बार नाट्यकार अपनी ओर से ऐसी ऐतिहासिक सामग्री में कहीं कमी-बेशी करने की स्वतंत्रता ले सकता है। ऐतिहासिक नाट्यकारों के लिये यह आवश्यक है कि वह दोनों प्रकार के दर्शकों को समान रस दे, उनको भी जो इस इतिहास से परिचित हैं और उनको भी, जो उसके बारे में कुछ नहीं जानते अथवा बहुत कम जानते हैं। सो एक तो ऐसा नाटक सर्वाङ्गीण होना चाहिये और दूसरे उसे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों से परे नहीं जाना चाहिये, और न ही इतने विस्तार में जाना चाहिये कि देखने, सुनने से थकावट हो। शेक्सपीयर ने कुछ एक श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं और उनमें एक कल्पित पात्र ऐसा भी डाला है—फाल्स्टाफ—जो अपनी चतुराई, नौक-भोंक, हास्य आदि गुणों के कारण अमर हो गया है।

हिंदी में नाटकों की रचना हमें दसवीं शताब्दी से मिलती है। सर्वप्रथम सं० १६६३ में आगरे के बनारसीदासजी ने 'समयसार' नाटक लिखा। इसके अनन्तर १६६७ में प्राणचन्द्र ने 'रामायण' महानाटक की रचना की। इसके अनन्तर देव कवि का 'देव मायाप्रपंच', हृदयराम का—'हनुमान नाटक', ब्रजवासीदास का—'प्रबुद्ध चन्द्रोदय' और सं० १७६५ में नियाज कवि का 'शकुंतला' मिलते हैं। इसके पश्चात् शीघ्र ही भारतेन्दु का उदय हुआ और उनके 'अंधेर नगरी, चौपट राजा', 'भारतदुर्दशा', 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' आदि सुप्रसिद्ध हैं। सामाजिक समस्याओं पर ये पहले प्रयत्न थे। इसी युग में कई और लेखकों ने नाटक लिखे, जिसमें सर्वप्रथम लाला निवासदास

थे, दूसरे थे प्रतापनारायण मिश्र । इसके अनन्त द्विवेदी युग आया । इसमें बंगला से अनुवाद करने पर अधिक ध्यान दिया गया और इन अनुवादों में द्विजेन्द्र लाल राय के नाटक हिंदी में खूब प्रचलित हुए ।

हिंदी नाटकों में अगला युग-परिवर्तन प्रसादजी ने किया । इनके नाटकों की पृष्ठभूमि विशुद्ध ऐतिहासिक है और इनमें, काफी देर बाद, एक बार फिर गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग किया गया ।

वर्त्तमान काल में उदयशंकर भट्ट, उग्र और अशक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

९

रूप अनुसार नाटक का विभाजन करते समय हमने रोमांचवाद, यथार्थवाद, प्रतीकवाद और प्रभाववाद का संकेत मात्र किया था । यहाँ यह दुहराना अनुचित नहीं होगा कि पदार्थों का यथार्थ-गुण-रूप चित्रण, यथार्थवाद कहलाता है; इनका आदर्शमय अथवा असंभवरूप रोमांचक है अथवा प्रतीकवादी; और इनका उल्टा, बिगड़ा हुआ रूप प्रभाववादी होता है ।

• रोमांचवाद प्रत्यक्ष का विरोधी, स्वप्नलोक का वासी हमें ऐसी अदृष्टपूर्व और आदर्श धरती के दृश्य दिखाता है जो हमारे जीवन के अनुभव से होता है । जहाँ प्राचीनतापूजक साहित्य, गठन, विषय और भाव की नियमशीलता, अनुमान, सीमितता और परम्परापूजा पर जोर देता है और यथार्थवादी साहित्य न्यूनतम विस्तार, जीवन

के अनेक कणों का देता है, जिन्हें हम नित्यप्रति देखते हैं, परन्तु समझते नहीं, रोमांचवाद नियमशीलता और संयम का विरोधी है, वह परम्परा को असत्य प्रमाणित करता तथा केवल-मात्र प्रत्यक्ष से घृणा करता है। रोमांचवाद की आत्मा सर्वाङ्ग-संपूर्ण जीवन द्वारा धड़कती, उछलती, अतीव विस्तृत और उत्साह में होती है। रोमांचवाद हमें नूतन रमणीय स्वप्न प्रदान करता है, साथ ही वह तीक्ष्ण-दृष्टि तथा शक्ति, जिनके द्वारा स्वप्न सत्य हो सकें। यह हमारे जीवन को उत्सुकता, और विस्मय में रंग देता है। रोमांचवादी के लिये अप्रत्यक्ष और अलभ्य, दो सबसे बड़ी वास्तविकतायें हैं।

जैसा कि हमने पीछे बताया है, हिंदी नाटक की परम्परा अपने आदर्श में सनातन-पूजक परन्तु विस्तार में रोमांचकारी है। उसमें समय अथवा स्थान का कोई बंधन नहीं; दुःखांत-सुखांत सम्मिश्रित से होते हैं; कहानी का विस्तार हमें विस्मय और अचम्भे की ओर ले जाता है; परियों, देवताओं के रिश्ते-नाते मनुष्यों के साथ होते द्रसाये जाते हैं; ऋषियों के शाप, छल, जादू, स्मृति की निर्बलता, अलौकिक शक्तियों आदि की सहायता द्वारा हम किसी अन्य जगत में विचरने लगते हैं और अंत सदा सुखमय होता है। रोमांचक धरती पर मृत्यु और क्लेश कहाँ? कोई रोमांचक प्रेमकथा, युद्ध-वर्णन, कार्यक्षेत्र में मनुष्य का कोई अद्भुत कारनामा, जीवन-रहस्य, प्रकृति-मानव-दुःख-सुख संयोग आदि इन कथाओं का विषय है। यूरोपीय साहित्य में इसके प्रसिद्ध दृष्टांत शेक्सपीयर के नाटक हैं और भारत में कालिदास के।

यथार्थवाद इसके प्रतिकूल तर्क के युग का आविष्कार है । इसका सिद्धांत मनुष्य और उसके आवेष्टन को, जैसे कि वह दिखाई देता है, वैसे ही अभिव्यक्त करना है । परन्तु इसमें भी लेखक अपनी रुचि के अनुसार काट-छांट करता रहता है । बहुधा यथार्थवादी नाट्यकार अपने आपको एकदम छिपाकर, रंगमंच पर जीवन प्रवाह को यूँ बहाता है, बिना किसी शिक्षा-सम्मति के, निजी नेतृत्व के, कि हम एक बाढ़ में बहते अनुभव करते हैं, मानों अगाध समुद्र में अपने केवट हम स्वयं ही हों और हाथ पांव चलाने, चप्पू पकड़ने, संगियों, नाव और अपने प्राणों की रक्षा, केवल हम पर निर्भर है, केवट अथवा वाकी संगियों की नहीं । यथार्थवाद मानव की आदर्शप्रियता, और कल्पनाशक्ति का उपहास करता प्रतीत होता है, परन्तु विस्तार पर जोर देने के अर्थ यह कभी नहीं होने चाहिये कि उसका कोई ध्येय अथवा लक्ष्य ही न हो । अर्थहीन विस्तार निम्न कोटि की कला है, इसकी सूक्ष्मदृष्टि की कारीगरी चाहे कितनी ही प्रशंसा की पात्र क्यों न हो ।

नाट्यकला में यथार्थवाद ने आघात और कथानक को निम्न स्थान दिया है, और पात्रचित्रण को पहला । परन्तु पात्रचित्रण भी एक भिन्न ढंग द्वारा किया जाता है । वह इस प्रकार कि पात्र सजीव, कार्यक्षेत्र में से गुजरते, अपने आपको हमारे समक्ष धीरे धीरे, स्वीय आघातों द्वारा प्रकट करते, घड़ते, एक परकाष्ठा की ओर ध्यान लगाये, जहाँ से अंतिम मोड़ आरम्भ होता है, पात्र-विकास के किसी एक बिंदु पर आकर खड़े हो जाते हैं, जहाँ नाट्यकार उनका सभी कुछ, अंदर बाहर से, हमारे सामने निखार

देता है। इसलिये पात्र के संपूर्ण इतिवृत्त में नाट्यकार को दिलचस्पी नहीं होती, केवल एक विशेष क्षण में पात्र की विशेष मानसिक अवस्था को चित्रित करना उसका मुख्य ध्येय होता है। किसी पात्र को, प्रायः अकेले, स्वगतोक्ति द्वारा, हृदय का उवाल निकालते नहीं दिखाया जाता, अपितु और पात्रों के घमासान में खड़ा हुआ, रूपमान किया जाता है। दो एक पात्रों के स्थान पर, हमारी दिलचस्पी के कई पात्र होते हैं और उन सारों का सामूहिक संघर्ष निर्धनता, समाज, परम्परा, विरासत, धार्मिक प्रसहिष्णुता अथवा सारे संसार के साथ होता है। भाव यह कि व्यक्ति का अपने से बाह्य शक्तियों के साथ होता संघर्ष यथार्थवादी नाटक का विषय होता है।

इस प्रकार के नाटक का कथोपकथन यथासम्भव अधिक से अधिक यथार्थवादी बनाया जाता है, परन्तु नाट्यकार चुनाव यहाँ भी करता है, संवादों को छीलता, तराशता, क्रम देता, कतरव्योंत करता, छानता है। यथार्थवादी उपन्यास सजीव वार्त्तालाप को गमंच पर लाया है, इन्सन, हाफ्टमैन, चेखोव इस श्रेणी के ग़रंगत नाट्यकार हैं। इन्होंने किसी कलाहीन विधि द्वारा जीवन का यथार्थ चित्रण नहीं किया, अपितु उनमें पूर्णतया चेतन कला का उपयोग किया है और उनका एक अनुभूतिशील लक्ष्य है।

प्रतीकवादी और प्रभाववादी नाटक यथार्थवाद-विरोधी, जीवन के प्रत्यक्ष पक्ष की अपेक्षा उसकी भीतरी गहराइयों को मापते हैं।

प्रतीकवादी नाटकों में दो कथायें गूँथी जाती हैं—एक ठोस, तथ्य विरह की, दूसरी, उसके साथ ही साथ गतिशील, भीतरी

मानसिक जगत की। भाव, नाटक के मूलविषय को (जो एक विचार, आदर्श, स्वप्न आदि होता है) कहानी द्वारा विकसित करने की अपेक्षा, मूलविषय सहायक कहानी के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार अर्थ को दो बार गाढ़ा करने से जहाँ प्रभाव तीखा, गहरा पड़ता है, वहाँ इसका खतरा भी है कि यदि सहायक कथानक अंतर्मुखी होने के स्थान पर अधिक बाह्यमुखी हो जावेगा, तो वह सीधा प्रचार बनकर रसोत्पत्ति नहीं होने देगा।

प्रतीकवादी नाटक किसी धार्मिक काव्य-रचना की तरह बहुधा रहस्यवादी बन जाता है, क्योंकि उसके कथोपकथन और कर्म दोनों में से, एक से अधिक अर्थ निकाले जा सकते हैं। इब्सन, मेटर्लिक, चेखोव, हाष्टमैन, वैरी इस श्रेणी के लेखक हैं।

प्रभाववाद चिह्नवाद की ही अंतिम सीमा है। यहाँ पर भी दो कहानियाँ जड़ी होती हैं, परन्तु भीतरी कहानी बाहरी कहानी पर लगभग बिल्कुल ही निर्भर नहीं करती। प्रभाववाद हमें वास्तविकता का भ्रम, छल जैसा दिखायी देता है, उसे तोड़ मोड़ कर, बिगाड़ कर, उल्टा करके। जैसे वर्तमान जीवन जटिल, असंपूर्ण द्विधा में फँसा हुआ है। इसे प्रकट करने के लिये प्रभाववाद प्रायः बिगड़ी हुई अथवा जटिल हुई चिंतनशक्ति का उपयोग करता है, दूसरे, बाहरी कहानी किसी क्रमबद्ध लड़ी में पिरोयी नहीं होती, जिसके द्वारा प्रत्येक दृश्य कथानक को आगे ले जाये। दृश्य पृथक् पृथक्, विशिष्टरूप, खंडप्राय प्रतीत होते हैं, जिनमें से प्रत्येक दूसरे के साथ बड़ा ढीला जुड़ा होता है और समूचे चित्र के साथ उसका सीधा संबंध होता है। तीसरे, प्रभाववादी नाटक कानों और

आँखों को (अपनी भाषा, इंगितों आदि द्वारा) परिलुप्त करना अपनी कला का एक मुख्य कर्त्तव्य समझते हैं ।

प्रभाववादी नाटक आघात को इतना महत्त्व नहीं देते, जितना विचार अथवा भाव को, जो हमारे हृदय पर किसी प्रभावशाली और महान व्यथा की तरह बैठ जाते हैं । प्रभाववाद भी किसी न किसी सामाजिक प्रश्न को उठाता है और हमेशा गंभीर होता है । ओ नील (इङ्गलैंड) और राइस तथा लासन (अमेरिका) ने इस अंग को नाटक द्वारा विकसित किया है ।

इस तरह प्रभाववादी यथार्थवाद के विरुद्ध हैं, वे प्रत्यक्ष जीवन को इसी तरह अंकित कर देने में कोई अर्थ नहीं देखते और मानसिक जगत को झलक दिखाना अपना पहला ध्येय मानते हैं । उन्होंने डाक्टर फ्रायड की मानसिक गवेषणाओं का प्रचुर लाभ उठाया है और गतिशील रंगमंच आदि का अस्तित्व स्थापित किया है, जैसे अन्य प्रचुर रंगमंच की सामग्री को, जिनकी सहायता द्वारा मानसिक जगत के उतार चढ़ाव प्रभावशाली ढंग द्वारा चित्रित किये जा सकें ।

प्रभाववादी किसी एक पात्र को अपने संदेश का कारण बनाते हैं, जिस के अंदर कोई मानसिक संघर्ष अथवा आत्मिक व्यग्रता उत्पन्न होती है । संसार और उसके प्राणी ऐसे मानव की नव-चेतन आत्मिक अथवा मानसिक दृष्टि द्वारा देखे, वर्णित किये जाते हैं, जो नाटक में चिह्नों द्वारा रूपमान होते हैं । इसीलिये वे धुँधले, स्वप्निल, विपर्यस्त जैसे होते हैं, सजीव व्यक्ति अथवा दृश्य नहीं, अपितु मानव श्रेणियों के अस्पष्ट रूप जैसे । आंतरिक जगत

को रूपमान करने में, जो प्रभाववाद का उद्देश्य है, ऐसा हो जाना स्वाभाविक है, क्योंकि इसमें बाह्य जगत का अत्यल्प प्रदर्शन होता है। इसकी भाषा भी तात्कालिक आकर्षणशील, विजली की तरह गर्म, आवृत्तिपूर्ण, गीत की हूक की तरह भावों के चढ़ाव वाली, अंतःकरण के पट-खोल रखती है। आघात भी इस उपन्यास में तात्कालिक, अव्यवस्थापूर्ण, असम्भव जैसा होता है और उसके साथ उपयुक्त संगीत अथवा स्वर, और किरीट-मुकुट आदि, प्रकाश, शृंगार, गतिविधि, दृश्यों का परिवर्तन आदि उसके आशय को और भी प्रभावशाली बनाते हैं।

नाटक के सिवाय यह रुचि संगीत और चित्रकला में भी आधुसी है।

१०

नाटक के कांड को समाप्त करने से पूर्व इसके तीन नूतन रूपों—जो वर्तमान शताब्दी का ही आविष्कार हैं—पर कुछ प्रकाश डालना अनुचित नहीं होगा। वे रूप हैं—रेडियो नाटक, सिनेमा-नाटक, और एकांकी नाटक।

रेडियो नाटक हमारी आंखों के सामने नहीं खेला जाता, चाहे रेडियो-स्टूडियो में कई बार कुछ चुने हुए दर्शकों को भी बुला लिया जाता है। परन्तु ऐसे नाटकों का मुख्य प्रयोजन, उन लाखों श्रोताओं का मनोरञ्जन होता है, जो केवल कानों द्वारा ही नाट्य-का आनन्द ले सकते हैं। टैलीविजन के अधिक प्रचलित होने पर आँखों की परितृप्ति भी आवश्यक अंग बन जावेगी। अब भी हम

रेडियो में चाहे नाट्यपात्रों की शारीरिक गतिविधि को नहीं देख सकते, परन्तु उनके भावों का उतार-चढ़ाव, क्रोध, दुःख, सुख, आह्लाद आदि को, रोने, आहें भरने, खिलखिला कर हँसने, आदि से जाँच सकते हैं। और जैसे परदे के पीछे तूफान, अन्धेरी, और मागर की लहरों की ध्वनि, शोर-शराबा, भांति भांति के स्वर, पृष्ठभूमि का संगीत आदि को नाट्य-हाल में बैठे दर्शक भी केवल सुनकर ही अनुभव करते हैं, इसी प्रकार ही प्रत्येक प्रकार का उपयुक्त प्रभाव रेडियो में भी बांधा जाता है। कमी केवल यह होती है कि हमारा शारीरिक सम्बन्ध नाट्यपात्रों के साथ बिल्कुल नहीं होता, हम उनकी आकृतियों को, चाल ढाल को, बैठने उठने को, हावभाव को देखते नहीं, जिसके द्वारा नाटक के प्रभाव में बड़ा अन्तर हो जाता है। इसलिये रेडियो-नाटक ठीक अर्थों में नाटक नहीं, क्योंकि यह खेलने के लिये नहीं, केवल बोलने के लिये लिखा जाता है।

सिनेमा नाटक को इससे भी न्यून नाटक का दर्जा दिया जा सकता है। क्योंकि सिनेमा चाहे नाटक की पूरी भ्रांति उत्पन्न करता है, उसकी कहानी संवाद में बंधी होती है, नाट्यपात्रों को हम जीते जागते, गतिशील, हावभाव प्रकट करते, आंखों के सम्मुख देखते हैं, परन्तु सिनेमा को कुछ लाभ हैं, जो नाटक को प्राप्त नहीं। जैसे प्रत्येक प्रकार के दृश्यों को चित्र द्वारा अथवा फोटोग्राफी द्वारा दिखा सकना, (जैसे और जिस प्रकार अधिक से अधिक उचित प्रतीत हो) पात्रों की गतिविधि, उनके वार्तालाप को बना लेना, आवृत्ति में, संपादित करते समय जो कुछ अनावश्यक तथा

अनुपयुक्त प्रतीत हो, उसे कैची से कतर देना अथवा कोई और चित्र जड़ देना; समय, स्थान के लिये किसी भी बंधन का अभाव; फ़िल्मों को रंग कर सकना और दृश्यों के प्रभावों को तीखा या हल्का कर सकना; असम्भव को “कैमरे” की कारीगरी द्वारा सम्भव कर दिखाना; असंख्य व्यय कर सकना और सारे संसार को अपना दर्शक बना सकना आदि आदि । इसीलिये इसमें संगीत, नृत्य, और दिल-बहलाव की और इतनी सामग्री दी जाती है और उसे यंत्र की तीव्र गति द्वारा ऐसे घुमाया जाता है कि रस की सृष्टि होती है । नाटक में इतने बदलने वाले दृश्य और भाँति भाँति के रस, तीन घंटों में तो कहाँ, कभी, कभी भी नहीं दिये जा सकते । न ही नाट्यशालाओं में इतनी विचित्र और बहुविध सामग्री एकत्रित की जा सकती है । इसलिये सिनेमा में इतना जोर नाट्यकला पर नहीं दिया जाता, जितना किसी प्रकार अधिक से अधिक दर्शकों को रस प्रदान करने पर, रस चाहे किसी भी प्रकार क्यों न दिया जाये । यही कारण है कि बहुत कम सिनेमा-नाटक प्रकाशित होते दिखाई देते हैं । उनका जीवन सिनेमा के चित्र के साथ समाप्त हो जाता है । इसलिये उन पर भी नाटक के रूप में विचार करना संगत नहीं है ।

हाँ, एकांकी—जो रंगमंच पर खेला जाता है और अपने विशेष सिद्धान्त लेकर रूपमान हुआ है, पर नाटक के रूप में विचार करना आवश्यक है ।

एकांकी नाटक किसी बड़े नाटक का संक्षेप-रूप नहीं होता, अपितु अपने आप में एक संपूर्ण कला होता है । इसमें विषय

केवल एक, दो या तीन पात्रों, (अधिक हुआ तो चार), जीवन की किसी छोटी-सी परिस्थिति अथवा किसी दृश्य को प्रस्तुत किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में, इसमें नाटकीय संघर्षण का वर्णन, उसकी उत्पत्ति, और उसका समाधान, उस विस्तार अथवा क्रम में नहीं हो सकते, जैसे बड़े नाटक में। पात्र-चित्रण अथवा घटना-विकास के लिये भी, इसमें स्थान नहीं होता। इसलिये इसमें प्रभाव की एकता और विषय की एकाग्रता, दो मुख्य आवश्यकतायें हैं।

एक गाँठ हमारे सामने डाली जाती है और अंत में वह अचानक सूये के आलोक की तरह, प्रकाशित हो जाती है। यही एकांकी का विषय है। यही इसको नाटकीय परिस्थिति, पराकाष्ठा और मोड़ है। कई बार विषय का वर्णन किया जा सकता है, कई बार यह केवल प्रभाव जैसा बन जाता है, जिसे केवल अनुभव किया जाता है, परन्तु जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह विषय इतना जटिल, विस्तृत अथवा कठिन नहीं होता, जिसके वर्णन और समाधान के लिये प्रचुर विस्तार अपेक्षित हो। यह विषय केवल कोई एक भाव, विचार अथवा जीवन का एक भाग, अपनी इकहरी सादगी में होता है। परन्तु यह इतना अचानक प्रकट होता है कि हमें आश्चर्यचकित, विस्मित कर देता है। यही इसका विशेष गुण है। जिस एकांकी में यह गुण नहीं, उसकी कला निम्नस्तर की है।

नाटक भी कला के अन्य अंगों की तरह जीवन के साथ सम्बन्ध रखता है। इसका स्रष्टा कोई प्रतिभाशाली कलाकार होता है, जो जीवन को एक विशेष दृष्टिकोण से देखता है। जो भी स्त्री पुरुष, भाव, कार्य, आदर्श, आशय, संघर्ष, विजय-पराजय, इसके द्वारा हमारे सम्मुख रूपमान होते हैं, वह कला के इतिहास में तभी जीवित रह सकते हैं, यदि उनमें कोई ऐसा विशिष्ट गुण हो, जो उससे पहले किसी कलाकार ने चित्रित किया हो। यह तभी हो सकता है, यदि नाटक में वर्जित आघातों, विचारों को न केवल भिन्न भाषा ही दी जाय, अपितु एक नूतन शक्ति और दृष्टिकोण भी। यही नाट्यकार का जीवन-दृष्टिकोण होगा, जो वह नाटक के शरीर में बड़ी कला द्वारा गूँथता है।

उपन्यास में निजी दृष्टिकोण को चित्रित करना उपन्यासकार के लिये अतीव सुगम है। जहाँ वह किसी रहस्य को, पात्रों या घटनाओं द्वारा प्रकट न कर सके, उसे वह अपनी टिप्पणी द्वारा स्पष्ट कर सकता है। नाट्यकार के लिये ऐसा कर सकना असम्भव है। उसकी कला उसे इस बात की आज्ञा नहीं देती कि वह अपने व्यक्तित्व को प्रकटरूपेण नाटक में ला खड़ा करे। परन्तु क्या वह गुप्त रूप से भी ऐसे नहीं करता? क्या वह अपने संदेश, अपनी आत्मा, अपनी टिप्पणी को नाटक में घोल नहीं देता? क्या वह विशिष्टशक्ति जो हम किसी नाटक के पात्रों, घटनाओं अथवा वातावरण में ढूँढते हैं, केवल भाषा के वैभव का प्रसाद होती है?

नहीं, भाषा में विशेष स्थलों पर स्फूर्ति और जीवन भरने वाला अन्यत्र स्थलों को स्थिरता तथा कोमलता के रंगों में रंगने वाला, विशेष पात्रों, घटनाओं को और भी चमकाता, दृढ़ करता, विषय को कण विशेष भुकाव में लपेटता हुई, एक विशिष्ट आवेष्टन, वातावरण को निखारने वाला, अपनी कला के विन्यास को दोनों ओर एक जैसा रखकर, (जिससे नाटक की भ्रांति दृढ़ हो) एक ओर अधिक भुकाता हुआ—नाट्यकार का वह दृष्टिकोण है, जो वह अपनी कला द्वारा उजागर करना चाहता है ।

भ्रम इस कारण उत्पन्न होता है कि नाटक में नाट्यकार स्वयं सामने नहीं आता, उसके पात्र कुछ घटनाओं में लिप्त होते, कुछ कहते, कुछ करते और बहुधा विरोध में, क्योंकि विरोध के बिना, नाटकीय समस्या नहीं बनती, जिसका अस्तित्व नाटक को नाटक बनाता है । इसलिये एक पात्र कोई बात कहता है, कोई काम करता है, उसका विरोधी उसे रोक देता है । इस प्रकार नाटकीय भ्रांति कायम रहती है । परन्तु क्या कभी किसी नाटक में ऐसा भी हुआ कि अंत तक दोनों पक्ष एक जैसे रखे जायें, कोई प्रश्न उठे और उसका उत्तर न मिले, चाहे उसका अंत कुछ भी क्यों न हो । प्रत्येक समस्या का समाधान हो जाता है—चाहे समाधान मृत्यु में हो, चाहे हास्यमय जीवन में, पर समाधान होता अवश्य है । किसी प्रश्न का अंतहीन अस्तित्व प्रकृति के नियमों के विरुद्ध है । इस प्रश्न का जैसा भी उत्तर निकलता है, जो परिणाम निकाल कर वह हल होता है, जिस प्रकार हमारे हृदय को प्रेरित कर वह लोम होता है—वही उसका निचोड़ है—वही नाट्यकार का जीवन-

दृष्टिकोण है। वह हमें सारे नाटक के वातावरण में घुला हुआ मिलेगा, उसे विशेषतया प्रकाशित किया गया होगा, दुहराया गया होगा। विशेष विशेष पात्र (नायक नायिका भी और उनके विरोधी भी) उस दृष्टिकोण से या तो सहमत होंगे और साथ चलते होंगे और या अपनी पराजय में उसे और पक्की तरह हमारे हृदय पर अंकित करते होंगे। गम्भीर नाटकों, जैसे दुखांत, प्रतीकवादी अथवा प्रभाववादी नाटकों में से विशेषतया, यह संदेश यूँ भरता है कि हमें कोई भ्रम नहीं रहता। कोई एक पात्र विशेषतया उस संदेश को बार बार हमारी आँखों के सामने लायेगा, चाहे बोलकर, चाहे मूक आघातों द्वारा। प्राचीन यूनानी नाटकों में 'कोरस' यह कार्य संपन्न करता था और आगे बढ़ कर सीधी टीका टिप्पणी करता था। नायक की 'स्वगतोक्ति' और 'नेपथ्य' से भी यही काम कई स्थानों पर लिया गया है। कभी प्रतिनायक अपनी पराजय, अपयश अथवा अवसान द्वारा वह संदेश चित्रित करता दिखाई देता है। कई स्थानों पर विदूषक जीवन को प्रकाशित करने के लिये, इंगित करता जाता है। कई नाटकों में कोई एक पात्र अपने विशेष ज्ञान और नैतिकता के कारण भट से इस उत्तरदायित्व का भागी समझ लिया जाता है कि वह नाटक में होने वाले आघातों पर अपनी टिप्पणी द्वारा हमें नाट्यकार के भीतरी भावों से परिचित कराये।

प्रत्येक अवस्था में देखना यह चाहिये कि कहानी का लक्ष्य किस ओर है, उस लक्ष्य को अपनाने वाले पात्र कौन कौन से हैं, अवसर कैसा है, किस संबन्ध में कोई बात कही जा रही है,

आदि । और यह कुछ परखकर जब किसी वक्तव्य पर विचार किया जाये, तो हम भट से जान सकते हैं कि यह नाट्यकार का अपना विचार है अथवा केवल किसी विशेष नाटकीय परिस्थिति पर संगत टीका-टिप्पणी ।

प्रायः विशेष नाटकीय परिस्थितियों पर ही नाट्यकार अपने विचार प्रकट करता है, जब परिस्थिति की तीक्ष्णता और उसके उभार के लिये यह बात अपेक्षित हो कि जो कुछ हो रहा है और जिसका वह परिणाम है अथवा जो परिणाम उससे निकल सकते हैं, उनका कारण क्या है ? उसीसे कहानी का मूल विषय और वातावरण भी, जो बहुत बार अतीव विकसित और समूचे फैलाव में विस्तृत होता है, ढूँढा जा सकता है । यही नाट्यकार का जीवन-दृष्टिकोण होता है । परन्तु यदि नाट्यकार के शब्दों में ही उसका वर्णन किया जाये, तो ऐसे शब्द भी नाटक में से ढूँढे जा सकते हैं; यदि उपरिलिखित आवश्यकताओं को पूरा करके किसी वचनावली पर विचार किया जाये ।

हम नाटक देखने जाते हैं, क्योंकि हम न केवल जीवन की आंति को कला की सहायता से परिहार करना चाहते हैं, अपितु एक प्रतिभाशाली कलाकार से उन प्रश्नों का, जो नित्य हमारे सामने उठते हैं, यथार्थ और संतोषदायक उत्तर भी प्राप्त करना चाहते हैं । कलाकार यह उत्तर सीधा, स्पष्ट तथा व्याख्या द्वारा नहीं समझाता, अपितु कलात्मक ढंग से, हमारे सौन्दर्यबोध की परितृप्ति करता हुआ समझाता है । पर प्रश्नों के उत्तर वह देता अवश्य है । अरस्तू का यह कथन कि हम दुःखांत को देखते हैं, अपने अन्दर से भय

और अनुकम्पा के भाव मिटाने के लिये, केवल एक सीमा तक ही ठीक हो सकता है । प्रत्येक कलात्मक रचना को भयनाशक होना चाहिये, भयावह नहीं । ढंग चाहे कोई भी बरता जाये । परन्तु अनुकम्पा-विरोधी रचना निम्नस्तर की रचना बन सकती है । हम क्या दुःखान्त, क्या अन्य कलायें, जीवन को जगाने के लिये, उसके सभी अच्छे भावों का चित्रण करने के लिये, उन्हें गहरे करने के लिये, हमारे भीतरी “संपूर्ण मानव” को प्रेरित करने के लिये, पढ़ते, सुनते, देखते हैं, इन भावों को नष्ट करने के लिये नहीं । और अनुकम्पा एक रचनात्मक भाव है, जिसका अभाव मानव को पशु बना सकता है । हाँ, अनुकम्पा विलासमयी अथवा घृणा से भरी नहीं होनी चाहिये, अपितु समष्टि के कल्याण के लिये प्रेरणा देने वाली, वीररस जगाने वाली, जीवन के कोढ़ को काटने के लिये उत्पन्न होनी चाहिये ।

परन्तु कोई कलाकार, (चाहे वह नाटक भी क्यों न रच रहा हो, जिसमें सर्वाधिक आत्म-विस्मरण की आवश्यकता होती है) किसी महान कलात्मक कृति की सृष्टि नहीं कर सकता, यदि वह अपने आपको, अपने जीवन की प्रवृत्तियों, उसके आदर्शों, उसके आवेष्टन और उसके प्रश्नों को भुलाकर, दर्शकों को किसी रोमांचक भ्रांति द्वारा रसदान करना चाहता है । उसकी कला सार्थक नहीं, केवल अवकाश-क्रीड़ा है और इसीलिये महान नहीं है ॥

परख, कहानी, लेख

१

ज्यों ज्यों साहित्य बढ़ता जा रहा है त्यों त्यों उसकी परख भी बढ़ती जा रही है । कई लोग यह कहते सुने जाते हैं कि साहित्य तो जीवन से सम्बन्धित है और जीवन को अन्दर बाहर से चित्रित करता है, परन्तु परख क्या है ? क्या साहित्य पढ़कर पाठक सीधा आनन्द नहीं ले सकता कि उस पर टीका टिप्पणी अपेक्षित है । क्या साहित्य कोई ऐसा रहस्यवादी, अलौकिक, जटिल गठन है कि उसके विश्लेषण के लिये प्रमाता की आवश्यकता है ।

हाँ, जैसे हम जीवन के बहते प्रवाह में से कई बार एक दो अंजलियाँ भर कर भी कम ही पीते हैं, जैसे सौन्दर्य हमारी आँखों के सामने से नित्य प्रति सरसराता गुजर जाता है, हम उसे देखते, पकड़ते नहीं, उसकी ओर से प्रायः आँखें बन्द कर लेते हैं, जैसे हमें नित्य-प्रति अनुभव होते हैं, नित्य-प्रति हमारा ज्ञान बढ़ता है, परन्तु इनके भीतरी अर्थों की किरण हमारे हृदय में बस नहीं जाती; न एक तरह के अनुभव को हम दूसरे के साथ जोड़ सकते हैं और (इस प्रकार जीवन को एक समूची इकाई में जानने के लिये हममें न समझ होती है और न हमें अवकाश होता है) और इसीलिये हम साहित्य पढ़ते हैं । परन्तु साहित्य में से हमें

बहुधा कोई अनिर्वचनीयसी रस-प्राप्ति होती है। हम रोये पता नहा क्यों, शायद चित्त आगे ही दुखी था। हम किसी अवसर की असाधारणता पर हँस दिये, क्योंकि उलट-पलट अवस्था हमें हँसा देती है। पर हम जागे नहीं, हमने उस विचार को नहीं पकड़ा और न उस कला को जिसने हमें हँसाया, रुलाया। इसका निर्वाह हमारे लिये प्रमाता करता है। वह श्रेष्ठ साहित्य को निमृष्ट साहित्य से पृथक् करता है, वह कला में प्रयुक्त सारी कुशलता का निर्णय इस प्रकार करता है कि सौन्दर्य की एक नई झलक हमें दिखाई पड़ जाती है, मानों वह फूलों का इतर निकाल कर हमें भीनी भीनी सुगन्धि द्वारा आह्लादित करता जाता है। किसी कलात्मक रचना या कलाकार के साथ उसका संबंध उतना ही ठोस, सार्थक और सजीव है, जितना कला और कलाकार का जीवन के साथ। दोनों सौन्दर्य के पुजारी हैं—एक शब्द-वाणी रचता है तो दूसरा उस रचना को इस प्रकार निखारता है कि उसका अंग अंग हमें उसकी पहली झलक में दिख जाता है।

इसलिये प्रमाता को साहित्य-कार से भी अधिक गहरी दृष्टि, विशाल अनुभव तथा ज्ञान, मानसिक जानकारी, सांस्कृतिक इतिहास तथा संसार के अधिक से अधिक साहित्य का परिचय होना आवश्यक है। नहीं तो उसकी परख भ्रान्त-प्रायः सी होगी और अनावश्यक प्रशंसा अथवा झूठी और थोथी निन्दा की सीमा से आगे नहीं जायेगी। और इसके साथ ही प्रमाता को शब्द-ज्ञान का विशेषज्ञ होना चाहिये। यह सब कुछ उसकी अपनी लेखनी में से दिखाई दे जायगा। यदि वह ज्ञानी नहीं, तो उसकी परख

थोथी होगी “यह अच्छा है यह बुरा है” के दो टूक निर्णय देती, विचार को अनावश्यक ही ऊपर उठाती, किसी को अज्ञानता में नष्ट करती, अनुपयुक्त स्थलों की ओर निर्देश करती अथवा केवल शब्द-रस की ही रट लगाती, मशीनो जैसी, प्रचलित द्वन्द्वों और अलंकारों आदि को दहराती या उनके साथ टकराती, किसी नये प्रयोग में रस न लेती (और न ले सकती), अथवा हर नये प्रयोग का (चाहे वह कितना ही घटिया क्यों न हो) स्वागत करती दिखाई देगी । यदि प्रमाता शब्दों के मूल्य को नहीं समझता तो उसकी अपनी रचना नीरस, केवल पारिभाषिक, रसहीन, अस्वाद, कोरे ज्ञान से भरी होगी । जो सच्चे अर्थों में गुणग्राही है, जिसकी लेखनी में ज्ञान और कला दोनों हैं, वह यह कहेगा कि पाठक उसकी लेखनी का भी सत्कार करेंगे और उसका भी जिसका प्रमाता ने सत्कार किया है । कलात्मकता का सत्कार बेबस ही अंदर किसी रस की सरसराहट उत्पन्न कर देता है । जैसे सौन्दर्य की झलक किसी कलाकार में आवेगों का ज्वार खड़ा कर देती है, इसी प्रकार प्रमाता भी किसी कलात्मक रचना की सुन्दरता पर बेबस बलिहारी जाता है । और जैसे कोई भी कला केवल भावात्मक अथवा क्रमहीन अथवा ध्वंसात्मक नहीं हो सकती, वैसे ही कोई भी परख जिसमें बुद्धि नहीं, नियमितता नहीं, अथवा कला नहीं, परख नहीं कहला सकती । और प्रमाता की कसौटी यह है कि उसकी लेखनी में व्यंजना कितनी है और हमारे अनजाने ही हमारे हृदय के सुप्त तारों को उसने कहाँ तक भंकृत किया है । अनजाने गुणग्रहण करना तो प्रत्येक रसान्वेषी पाठक का अनुभव होता है । प्रमाता की

विशेषता यह है कि उसकी गुण-प्राप्तता व्यंजनात्मक भी होती है तथा भावात्मक भी। दोनों का समान मिश्रण परख के श्रेष्ठ साहित्य को जन्म देता है। इसलिये श्रेष्ठ प्रमाता साहित्यकार भी होता है और भविष्यवेत्ता भी। क्योंकि एक ओर तो वह अपनी लेखनी द्वारा हमारी कलात्मक चेतना को स्पन्दित करता है, किसी कलात्मक रचना के विश्लेषण द्वारा, सौन्दर्य के सारे परिधान खोल खोल कर; दूसरे न केवल वह हमें यह सब कुछ पूरी तरह सुमाने के लिये अपनी सम्पूर्ण कला का उपयोग करता है, अपितु अपनी शक्तिमती प्रतिभा के बल पर ऐसा मार्ग भी बनाता है, जीवन और भाषाओं के साहित्य, सांस्कृतिक इतिहास तथा सामाजिक आवश्यकताओं को परख परख कर, कि मानवीय आदर्शों का नेतृत्व होता है।

कई विद्वान् कहते हैं कि परख का कर्तव्य रचना-विशेष का, किसी वैज्ञानिक की तरह केवल विश्लेषण करना ही होता है। और इसमें प्रमाता को अपनी भावना नहीं मिलानी चाहिए और न ही उसकी तुलना उसी प्रकार के किसी और साहित्य से करनी चाहिये। उसे यह भी नहीं देखना चाहिये कि उसके स्थायी अंग कौन कौन से हैं और अस्थिर तथा अस्थायी अंग कौन कौन से। क्योंकि उनके कथनानुसार जैसे भूविज्ञान के विद्वान् एक प्रकार के पाषाण, खंड की किसी दूसरे से अधिक प्रशंसा नहीं करते, प्रत्येक खण्ड के गुण दोषों की समीक्षा कर देते हैं, वैसे ही प्रमाता को भी करना चाहिये। किसी प्रचलित नियमानुसार किसी रचना की समीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्रत्येक कलाकार अपने नियम

आप बनाता है । साहित्य भी जीवन को तरह विकास करता रहता है इसलिये प्रत्येक काल के साहित्य को एक मान-दण्ड पर तोलना उचित नहीं, चाहे वह कितना ही लोकप्रिय क्यों न हो ।

यह तो किसी हद तक माना जा सकता है कि प्रचलित मान-दण्ड की कसौटी पर साहित्य की समीक्षा (चाहे वह कितने ही लोकप्रिय और प्राचीन क्यों न हों) साहित्य में विकास अथवा परिवर्तन के अस्तित्व को झुठलाना है, इसलिये यह तरीका ग़लत है । यह भी ठीक है कि प्रत्येक समय एक ही प्रकार के विचारों, भावनाओं अथवा कलात्मक परिपक्वता का इतिहास रचा नहीं जा सकता ।

यह धीरे २ निखरता, परिष्कृत होता है । यह भी ठीक है कि साहित्यकार एक अमर प्रतिभाशाली तथा दूरदृष्टि रखने वाला कलाकार है, इसलिये उसका विचारमात्र को देखने परखने, जतलाने, का ढंग खास उसका अपना होगा । क्यों कोई साहित्यकार वैसे लिखे जैसे किसी प्रमाता की (चाहे वह कितना ही बुद्धिमान् तथा रसज्ञाता हो) मत है कि वह लिखे । फिर प्रत्येक प्रमाता का मत भी तो भिन्न हो सकता है । एक किसी रचना को बहुत अच्छा कह सकता है, दूसरा अपने मतानुसार एकदम घटिया । मतों के इस घमासान में से किसको स्वीकार किया जाय । संभव है कि प्रमाता को किसी विषयविशेष से अथवा कलाकार से घृणा हो ।

यह सब कुछ ठीक है, पर कौन ऐसा विख्यात प्रमाता है जिसने इतनी निजी राय दी हो कि किसी और के साथ मिली ही न हो । वैसे तो प्रत्येक साहित्यकार भी जीवन के सम्बन्ध में अपना ही

दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। क्या इसीलिये उसकी उपेक्षा कर दी जाय क्योंकि वह किसी अकेले व्यक्ति-विशेष का अनुभव है ? प्रत्येक साहित्यकार की तरह प्रत्येक प्रमाता, मतों में निजी होता हुआ भी इतना वैयक्तिक नहीं होता कि अच्छे को बुरा या इस प्रकार का कोई अनुचित निर्णय देता फिरे। साहित्यकार की तरह वह अपने मत की मतान्तरों से तुलना करता है। वह केवल नये प्रयोग करने की आज्ञा ही नहीं देता, अपितु उन्हें पुरस्कृत भी करता है, यदि उनका कोई सार्थक पहलू हो; वह प्रत्येक समय, काल के उन विशेष प्रभावों की जांच करता है जिनके नीचे कोई रचना की गई हो, रचना तथा कलाकार की प्रसिद्धि (जो प्रायः शताब्दियों पर फैली होती है) का निर्णय रचना के साथ तुलना द्वारा करता है कि क्या वह कलाकार योग्य था या अयोग्य। कहीं २ साहित्यकार की तरह वह भी कई रंगों को अपनी रुचि अनुसार, किसी रंग को गाढ़ा भी कर देता है, हल्का भी; परन्तु रंगों को उल्टा देना किसी ज्ञानवान कलाकार के लिये (जो प्रमाता होता है) सम्भव नहीं। साहित्यकार की तरह ही उसकी दृष्टि पक्षपात रहित (पक्षपात चाहे जाति अथवा वर्ण का हो, निजी अभिरुचि का हो या श्रेणी का, दलगत हो या विद्या-विषयक) होती है, पर उसी हद तक, जहाँ तक प्रत्येक साहित्यकार ऐसी हद से ऊपर उठ सके, ताकि वह अपनी अभिरुचि से एक ओर ही लुढ़क न जाये।

प्राचीन मानदण्ड नैतिक, कलात्मक, जीवनादर्श-विषयक, किसी हद तक अवश्य हमारी सहायता कर सकते हैं, न केवल नवीन आदर्शों का सही मूल्य आंकने के लिये, अपितु कला के

एक से दूसरी सीढ़ी पर छलांग लगाने के इतिहास तथा आवश्यकता की जानकारी के लिये भी । वही साहित्य अथवा साहित्यिक मान-दण्ड (जो परख का शास्त्र है) शताब्दियों तक जीवित रहता है अथवा अपनी जाति को प्रेरित करता है (कड़े विरोध के होने पर भी) जिसमें सचमुच ऐसे गुण विद्यमान हों, घटिया कला अथवा परख का कोई नियम चिरजीवी नहीं हो सकता और न ही जनता की बहुसंख्या को भ्रम में डाल सकता है, यदि उसमें जीवित रहने की सामर्थ्य नहीं । इस प्रकार समय तथा लोक-पंचायत प्रत्येक मान-दण्ड तथा प्रत्येक कला को अन्तः अपने ठीक स्थान पर ले आते हैं । वास्तविक प्रमाता वह हैं जो इसे समय से पहले पढ़ लेता है । असली साहित्यकार भी वही हैं जो भावी की कोख में से कोई ठोस भेद पहले ही ढूँढ लेता है । जब वह शताब्दियों के चक्र तथा अनुभव द्वारा सही प्रमाणित होती है तो साहित्यकार को अमरपद प्राप्त होता है ।

ऐसे ही प्रमाता को भी जो साहित्य के भूत, भविष्यत को भली-भाँति देखकर, साहित्य का निर्णय करता तथा उसके मूल लक्षण इस प्रकार निखारता है, कि उसका मत सर्वमान्य होकर जीवन तथा उसको चित्रित करनेवाले साहित्य, दोनों की अगवाई करता है ।



कहानी वर्तमान शताब्दी में कला का एक विशिष्ट अंग बन कर रूपमान हुई है । परियों और भूतों की कहानियाँ, रोमां-

चिक प्रेम-संबंधों तथा मनचले योद्धाओं, सौदागरों, राजाओं रानियों की, पशु-पक्षियों की, महापुरुषों आदि की कहानियों या तो सब देशों में सभ्यता के आरम्भ से प्रचलित हैं। इनमें हितोपदेश, बुद्धजातक, पंच-तंत्र, (भारत), अलफ लैला (ईरान), ईसप की कहानियाँ (इटली), जादूगरों की कहानियाँ (मिसर), बाइबिल (पुरानी और नई) तथा कुरान-शरीफ (अरब) आदि की कहानियों का किसे पता नहीं। हम में से कौन ऐसा है, जिसने वचन में परियों की कहानियों की स्वप्न-लोरियाँ नहीं लीं, अथवा पंच-तंत्र की बुद्धिमत्ताभरी, पशुओं से सम्बंधित कहानियों से कानों को नहीं थपथपाया अथवा अली बाबा की सोने की तलाश में (खुलो सिम-सिम) की अलौकिक वायु में खुलती बेचैनो द्वारा हृदय को भंकृत नहीं करवाया अथवा चिड़ी तोता, कौआ आदि की मानवीय जीवन पर संगत या वैसे ही निष्प्रयोजन, अथवा “एक था राजा”, का पाठ नित्य प्रति गोधूलि के समय प्रत्येक घर से उठता नहीं सुना ?

इन कहानियों में सांसारिक बुद्धिमत्ता, नैतिकता, धर्म-शिक्षा, सोने या सौन्दर्य की खोज से संबन्धित संघर्ष, जादू या चमत्कार आदि का वर्णन किया जाता था। एक कहानी में केवल एक ही भाव पर जोर दिया जाता था, प्रत्येक कहानी का एक, एकांकी, निजी, विशिष्ट, वातावरण होता था। उसका मनोरथ रसपूर्ण भ्रांति में लपेट कर (जो कहानी का शरीर होता था) कोई शिक्षा देना था (मिथाय धार्मिक उपदेशों के जहाँ शिक्षा को गल्परस में गूँथने की आवश्यकता नहीं थी) और यह तीनों अंग अब तक

कहानी-कला के विशेष औजार बने हुए हैं। अन्तर केवल यह हो गया है कि आगे कहानी ज़बानी याद की जाती थी और एक से दूसरी पीढ़ी को सौंप दी जाती थी। अब वह छपा वर पढ़ी जाती है तथा साप्ताहिक एवं मासिक पत्रों में कहानियों की भरमार, उसकी सभ्य जनता में बढ़ती माँग की द्योतक है। यह कहना कि वर्तमान काल के मनुष्य के घटते अवकाश ने कहानी को जन्म दिया है, ठीक नहीं है। जब मनुष्य खेती बाड़ी द्वारा अपनी उदरपूर्ति करता था (और उससे भी पहले) तब से कहानी का आकार सदा छोटा चला आया है। बड़ी लम्बी कहानियों में भी जहाँ मुख्य पात्र एक ही होता था, विकास की व्यवस्था तथा एकता नहीं हुआ करती थी। पृथक् पृथक् कहानियाँ इसी एक महान पात्र के चारों ओर घूमती थीं और यही विशेषता उनको इकट्ठा रखती थी। एक परिवर्तन जो सबसे अधिक प्रत्यक्ष हुआ है, वह है वर्तमान कहानी की सामाजिक चेतना तथा उसका यथार्थवादी रंग। चाहे कहानी अब भी रोमांचक, अलौकिक या जादू अथवा रहस्य के प्रभाव में रंगी हुई, घटनाओं की असाधारणता पर निर्भर, लिखी और पढ़ी जाती हैं। पर धीरे-२ इसका क्षेत्र घटता जा रहा है।

एडगर ऐलन पो ने कहानी को व्याख्या करते हुए इसे “आधे घण्टे से दो घण्टे में पढ़ी जाने वाली गद्य-कथा” का नाम दिया है। कहानी की अल्पायु ही उसके शरीर के बाकी अंग भी बनाती है। अर्थात् कहानी-लेखक इस ढाँचे में केवल किसी एक प्रभाव को ही निखार सकता है। इसलिये वह जीवन की किसी

एक समस्या, पक्ष, भाग को आलोकित करता है; उपन्यास की तरह अनेक पक्षों को नहीं, न ही वह जीवन की सम्पूर्ण समस्या को विस्तृत कर सकता अथवा पात्र सृष्टि को ओर (जो उपन्यास का विशेष अंग है) ध्यान दे सकता है। इसीलिये कहानी के लिये उपन्यास का स्थान लेना असम्भव है। जीवन को भीतर-बाहर से जानने के लिये समय चाहिए। कहानों में हम जीवन के साथ दो चार क्षण ही व्यतीत करते हैं इसलिये हमें उसके किसी एक पक्ष की, किसी एक बिन्दु से झलक दिलाने की विवशता समझी जा सकती है। उपन्यास में हम किसी एक जीवन के साथ अधिक देर रहते हैं। बहुधा उसका सारा जीवन और उसके रंग-रंगपन की विचित्रता तथा समस्याओं की बहुपक्षता को भली-भाँति समझ लेने के लिये हमें समय मिल सकता है और यह ही हमारी उपन्यास से बड़ी माँग भी है। जो पात्र चिरकाल के लिये हमारे हृदयों पर अंकित हो जाते हैं, वे प्रायः उपन्यास के पात्र हो होते हैं।

इसलिये कहानी जीवन का कोई एक पहलू, रस का कोई इकहरा प्रभाव चित्रित करती है। घटना पर्याप्त समय पर फैली हुई भी हो सकती है और एक से अधिक भी, पर कहानी में उसका प्रभाव कोई एक ही व्यक्त होगा। इसलिये हर कच्ची अथवा असंगत पंक्ति, घटना, इंगित, विस्तार को कहानी में से काट देना पड़ेगा, नहीं तो वह हृदय को चुभेगा। रस की दुविधा तथा भूलभुलैयाँ में हमें भ्रान्त करेगा, भटकायेगा और हम इस तसल्ली से नहीं उठेंगे कि हमने कोई सम्पूर्ण कलात्मक रचना पढ़ी है। इसलिये कहानी में

आदर्श, कर्म तथा कारण की एकता, अटूट, गँठीली, मेरुदण्ड की तरह होनी चाहिये । इसी तरह ही प्रभाव की एकता स्थापित की जा सकती है । रस का एक पक्ष से दूसरी ओर उचाट करना कहानी की कला को नष्ट करता है । उपन्यास में यह प्रायः हो जाता है, पर वहाँ इसकी स्वतंत्रता है । एक कहानी में केवल एक ही कोई विषय, वस्तु, विचार, संघर्ष विकसित हो सकता है और वह एक ही लक्ष्य, सीमा, प्रभाव, आदर्श को ओर मुँह किये हुए । वट वृक्ष की अपेक्षा श्रीरूढ़ वृक्ष के साथ इसकी तुलना की जा सकती है, जिसका सीधा-पन, लम्बाई, एक ही ओर का फैलाव उसका गुण है । घेरा, घना-पन, छाया नहीं । इसलिये पहली से लेकर अन्तिम पंक्ति तक कहानी एक ही प्रभाव की दिशा में लम्बी की लम्बी चलती रहे, साँप की तरह बल खाती हुई नहीं और न नदियों की तरह आवर्तमयी, अपितु सूर्य के प्रकाश की तरह एक जैसी, या किसी तालाब में गिरते पानी की तरह, जिसकी सतह सदा एक जैसी रहती है ।

इस प्रकार कहानी के भिन्न २ अंग, कहानी के मुख्य विषय पर पूरी तरह निर्भर होंगे और उसे निखारेंगे । भावकी आवृत्ति उस एक रस को चमकायेगी । कहानी का प्रत्येक मोड़ हमारी उत्सुकता को उतना ही अधिक जगायेगा जितना उस मूल प्रभावको अधिक तीखा करने के लिये आवश्यक है । नहीं तो कोई भी न्यूनतम कलात्मक दोष कहानी में से भट सिर उठा कर उसके सारे मजे को किरकिरा कर देगा । यह नहीं कि कहानी में वार्तालाप की मनाही है अथवा प्रत्येक प्रकार के विस्तार की । अपितु स्थानीय रंग कहानी के लिये उतना ही सापेक्ष है जितना कला के किसी और अंगके लिये, तथा

उसका विस्तार भी इसलिए उचित है, पर उतना ही जितना सम्पूर्ण प्रभाव को गहरा करे, उसे पतला, हल्का न करे। प्रभाव भी प्रत्येक कहानी का विषयानुसार अपना, अपना होगा। कई जगह प्रभाव शुद्ध विषय का होगा; कई और स्थानों पर आवेष्टन, वायु, वातावरण का प्रभाव रहस्यवादी भी हो सकता है, रोमांचक भी, 'यथार्थ-वादी भी, प्रभाववादी भी। कहानी मानसिक जगत की भी हो सकती है, भूतकाल का चित्रण करने वाली भी, प्रत्यक्ष दरिद्रता तथा कुरुपता की भी, विस्मय, आश्चर्य, अद्भुतता वाली, रोमांचकारी भी, प्रकृति, किसान अथवा कामगार सम्बन्धी भी।

पर यथासम्भव कहानी को अपने विषय तथा कला में नाटकीय होना चाहिये, यह उसके रस को और भी चमकायेगा। नाटकीय से अभिप्राय वार्तालाप के ढंग का नहीं। भाव यह है कि घटना अपने आशय में आश्चर्यजनक, अनुपम, असाधारण सी हो, हो चाहे वह वास्तविक जीवन से संबन्धित; पर वह ऐसे भावों को चित्रित करे जो पाठक के हृदय में विस्मय के भाव जगा सकें, प्रत्यक्ष से थोड़े ऊपर के तल का, जब भाव चढ़ाव में होते हैं, और हम साधारण से भिन्न आघात करते हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण साहित्य कौतूहल के इस भाव को जगाता है, कविता अपने विरोध कोई नई नवीन उपमा देकर अथवा कोई ऐसा व्यंग्य रचकर जिसका अवसाद हम में वेदना भर देता है, परन्तु रस-विभोर करके, चौंकाकर, कोई नया विचार जगाकर। इसी प्रकार उपन्यास और नाटक कोई प्रश्न उठाते हैं, किसी असाधारण मानवीय प्रवृत्ति से तथा उसको इस तरह विस्तृत करते, बांधते, खोलते हैं कि हम चकित

रह जाते हैं। नहीं तो कला के दर्शन, पाठ तथा श्रवण से हमारा क्या प्रयोजन। अवश्य हमारे अनुभव से परे की कोई बात अपरिचित ढंग से कही जाती है जो पहले हमने देखी सुनी नहीं होती।

कहानी में भी ऐसे ही होता है। कोई बात शुरू की जाती है। हम जानना चाहते हैं कि उसका अन्त क्या हुआ? यदि प्रारंभ में ही उत्सुकता न हो, आगे कैसे चला जाय? कोई असाधारणता हमारी हृदय-तंत्री को छेड़ती है, तब हम आगे बढ़ने के लिये उतावले हो जाते हैं और जब कहानी समाप्त होती है चाहे वह किसी ठोस नतीजे पर न भी पहुँचे (जैसा कि प्रायः होता है) तो न केवल हम सन्तुष्ट होते हैं कोई सम्पूर्ण चित्र देखकर अपितु विस्मित भी। “ओह ऐसा भी हो सकता है?” और जितना ही यह “ओह!” जीवन के समीप होगा, उतना ही तीव्र चुभेगा। इस प्रकार कहानी के अन्त तथा प्रारम्भ दोनों को एक जैसे नाटकीय ढंग में बंधा होना चाहिए। कुछ का कुछ हो जाये, परन्तु ऐसी स्वाभाविकता से कि एक तो वह ठीक जँचे और दूसरे किमी एक प्रभाव को उभारे।

एलेन पो तथा मोयासाँ (फ्राँस) पुश्किन, तोल्स्तोय, चेख़व, तथा गोर्की (रूस), पाल हैसे (जर्मनी), समरसैट माम (इंग्लैंड), पर्ल-बक, तथा ओ० हेनरी (अमरीका) तथा प्रेमचन्द (भारत) में महान् गल्पकार माने गये हैं।

चाहे किसी घटना का विस्तार करना हो, जिसके लिये पात्र उसके साथ जोड़े जायें, चाहे किसी पात्र को सुलझाना हो (किसी एक पक्ष से ही) उसके साथ घटना जोड़ दी जाए; अथवा किसी

प्रभाव को अधिक स्पष्ट करना हो, उसमें क्रियायें तथा पात्र बढ़ा दिये जायें; कड़ानी में विषय, वातावरण, नियति, कारण सभी एक व्यवस्था में बंधे होने चाहियें। पर यह आगे कहानीकार पर निर्भर है कि उसका विषय कितना आकर्षक, सार्थक अथवा महान है, वह कैसे उनको कलात्मक विधि से खोलता, चित्रित करता है। अपनी कला में वह कितना निजी है और विषय का कितना अपना वातावरण बाँध सकता है। विषय की उसकी पकड़ धरातल पर ही है या गहरी है; ठीक अन्दर की। उसके शब्दों में शक्ति है या नीरसता; उसके संकेत, विस्तार, कहानी के मोड़ कितने स्वाभाविक, समीचीन किन्तु विस्मय-जनक, वास्तविकता के द्योतक हैं (रोमांचवाद में भी वातावरण उसके अनुसार वास्तविकता को ही रचना पड़ता है), क्या वह वर्णन में सीधा सादा, रूखा सूखा, एक सांस में बहता है और अन्त में चुपचाप अपना भेद खोल देता है, जिसकी हम प्रारम्भ से ही प्रतीक्षा कर रहे थे; जो कला की अपरिपक्वता का निर्देशक है, अथवा इकहरे प्रभाव को निखारता हुआ भी, उसमें स्वरूप, उतार-चढ़ाव, रस के पलटे और अन्त में नाटकीय विस्मय एवं व्यंग्य को ऐसे बाँधता है कि हृदय में हिलोर उठती है या वह किसी अनिर्वचनीय रंग में रंगा जाता है।

हिन्दी कहानी कला ने हिन्दी कविता की तरह पर्याप्त उन्नति की है। कहानी का कोई ऐसा रूप नहीं है, जिसका प्रयोग हिंदी में न किया गया हो। अब तो ऐसी प्रतिकायें भी मिलती हैं, जिनमें केवल कड़ानियाँ ही होती हैं। दैनिक पत्रों के साप्ताहिक संस्करणों में भी कहानी का एक विशिष्ट स्थान है।

वर्तमान युग के प्रसिद्ध कहानी-लेखकों में, सुदर्शन, चन्द्रगुप्त, यशपाल आदि काफी ऊँचे दर्जे की कहानियाँ लिखते हैं। दूसरी भाषाओं से अनुवाद अब और भी अधिक होते हैं। इस दिशा में उर्दू और हिंदी के चोटी के कहानी-लेखक, अब दोनों भाषाओं के पाठकों में सर्वप्रिय होते जा रहे हैं। उर्दू लेखक कृष्णचन्द्र इनमें सर्वप्रथम हैं।



लेख की ठीक ही किसी ने “गद्य में गीत” कह कर परिभाषा दी है। क्योंकि चाहे लेख सूर्य के नीचे हर किसी विषय पर लिखा जा सकता है उसका मुख्य गुण साहित्य के वाकी अंगों की तरह (वल्कि उनसे भी अधिक) लेखक का निजीपन है जिसके साथ वह अपने विषय में जीवन तथा रस दौड़ा देता है।

लेख दोनों प्रकार के ही हो सकते हैं—निजी भी और गैर-निजी भी। पहली दशा में वह अधिकतर लेखक के अपने अनुभवों, विचारों, आदर्शों, आवेगों के चारों ओर घूमते हैं; दूसरी दशा में वे कोई ज्ञान हम में बाँटना चाहते हैं, जो केवलमात्र लेखक का अपना नहीं होता। पर साहित्य में आदर उन्हीं लेखकों का होता है जो गैर-निजी लेखों में भी अपने व्यक्तित्व को, उसकी विशेष कलात्मक शैली को हमारे सामने निखार सके।

लेख लिखना सबसे सरल प्रतीत होता है। पर यह सब से कठिन है। उपन्यास, नाटक आदि में हम असाधारण (चाहे अनहोनी) घटनाओं का वहमभरा ताना बुन कर भी गल्प-

रस दे सकते, कला को बाज़ार में बेच सकते हैं। कविता भी अपने बाह्य शरीर—सन्तुलन, तुकान्तकता—के कारण आम विषयों पर थोड़ी मेहनत द्वारा घर में बैठ कर भी तय्यार हो जाती है। पर लेख-रचना ऐसे नहीं होती। केवल इसी कारण कि इसका लिखना हर किसी को (जो भाषा को जानता है, तथा व्याकरण के क्रम में उसे जोड़ सकता है) सरल प्रतीत होता है, एक महान लेखक को अपनी कला में और भी चौकन्ना रहना पड़ता है। क्योंकि एक बढ़िया लेख से न केवल हम किसी एक विषय पर विशाल ज्ञान का निचोड़ माँगते हैं (उस विषय का हर पक्ष, पहलू, भली भाँति देखभाल कर, उसमें से लेखक के जीवनादर्श के साथ मिलते हुए निष्कर्ष निकाल कर) अपितु कलात्मक रस भी, जो लेखक अपनी कला के चमत्कार द्वारा हमें देता है। कोई कितना ही ज्ञानी क्यों न हो, अपनी विशेष कलात्मक लेख-शैली के बिना वह साहित्यिक लेख नहीं रच सकता और ज्ञान को भी भली भाँति जाने और समझे बिना पाठकों के आगे प्रस्तुत कर देना उनकी कलात्मक पिपासा को नष्ट कर सकता है। जो कुछ किसी विषय पर पढ़ा, सुना, देखा जा सकता है, पहले उस पर विचार किया जाये, फिर उसका मूल-तत्त्व, निर्णायक रूप छान लिया जाय, उस छलनी अथवा पतली मलमल में से जो लेखक का अपना दृष्टिकोण है। तब कहीं जाकर उसे अपने रंग में रंगी, कलात्मक रस-दान करने वाली, नवीन अनोखी शैली में बाँधा जाय। बढ़िया साहित्यिक लेख उत्पन्न हो जायगा।

प्रारम्भ में लेख को एक अपूर्ण कृति माना जाता था। जिसमें

हृदय की अनुपम उड़ानें ली जाती थीं। साथ ही इसको एक अपर्याप्त माध्यम समझा जाता था, क्योंकि इसके आकार का छोटा होना (जो सदा से इसका एक मुख्य अंग रहा है) किसी विषय की गहराई तथा विस्तार से इसे पृथक् रखता था।

परन्तु अब ऐसा नहीं समझा जाता। लेख आकार में छोटा अब भी होता है। किसी विषय की पूरी जानकारी विस्तार में देना उसका मनोरथ अब भी नहीं है। पर अपने आप में वह एक पूरी व्यवस्था अवश्य होता है, उसका प्रत्येक पक्ष, इंगित-मात्र सुझाया जाया है, परन्तु उसका परिणाम किसी एक ओर ही खुलता है, जिस ओर लेखक के जीवन-संबंधी दृष्टिकोण का भुकाव हो; इसी लिये इसे “गद्य-गीत” कहा गया है। क्योंकि गीत में भी निजी भावनाएं उसका प्रधान गुण हैं।

लेख वैज्ञानिक भी हो सकते हैं, दार्शनिक भी, ऐतिहासिक, सामाजिक भी, समालोचनात्मक भी, संक्षेप में प्रत्येक उस समस्या पर, जिसके किसी पक्ष को व्याख्या की जा सकती हो, लेख लिखा जा सकता है। पर बाकी साहित्य की तरह केवल ज्ञान वितीर्ण करने वाले लेख साहित्य में सम्मिलित नहीं किये जाते, अपितु वे ही जो ज्ञान को लेखक के व्यक्तित्व के आधीन कर देते हैं तथा एक नई लेखशैली का चमत्कार होते हैं।

लेख में लम्बी कथानियाँ, विज्ञान के प्रयोग, दर्शन का ज्ञान आदि का सविस्तर वर्णन रस को एकता को नष्ट कर देता है। परन्तु इंगित मात्र, सब कुछ में जड़ा जा सकता है—जिसका विषय के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बंध जोड़ा जा सकता

हो और जो विषय के विकास में सहायक हो। उपन्यास के बाद हम लेख में ही अधिक से अधिक ज्ञान को कला के साथ जुड़ा हुआ देख सकते हैं।

लेख के लिये विशाल अनुभव, अध्ययन, भ्रमण, एक विशेष जीवनादर्श तथा कलापूर्ण निजी लेखशैली आवश्यक है। जितना अधिक मेल इनका एक स्थल पर एकत्रित किया हो, उतना ही अधिक वह समादृत होता तथा रसदान करता है।

अंग्रेजी में बेकन, इमर्सन कार्लाइल, रस्किन, वाल्टर पेटर, मैकाले, चार्ल्स लैम्ब, स्टीवेंसन तथा चैस्टरटन लेख के बढ़िया रचयिता माने गये हैं। हिन्दी में भारतेन्दु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डाक्टर श्यामसुंदरदास आदि प्रसिद्ध निबन्ध-लेखक हैं।

६ कुछ और विचार १

१—समाजवादी यथार्थवादः—राजनोति, आर्थिक व्यवस्था, धर्म, लोकाचार अथवा यूँ कहिये कि सामाजिक वातावरण ही मानव हृदय को मोड़ते, घड़ते, प्रभावित करते हैं। यही किसी काल-विशेष की कला को अस्तित्व में लाते हैं और उसका प्रचार करते हैं। किसी विशेष समय कला केवल उसी प्रकार की तथा उभी मोमा तक होती है जहाँ तक वह अपेक्षित हो, उसकी सामाजिक अथवा व्यक्तिगत माँग हो तथा राज-अधिकारी उसके प्रचलित होने के मार्ग में रुकावट न बनें। यदि आदि-मनुष्य का साहित्य आध्यात्मिक अद्भुतता तथा विस्मय को जन्म देने वाला, रहस्यवादी पौराणिक स्वरूप का था अथवा सामन्त-कालीन साहित्य युद्ध का प्रेरक, रोमाञ्चक, धर्म का ढोंग रचने वाला, नैतिकतावाद की दुहाई देने वाला था अथवा पूँजीवादी युग का साहित्य प्रत्येक सम्बन्ध—व्यक्तिगत, सामाजिक, राज-नैतिक को पूँजी के इर्द-गिर्द घुमाता है। तथा इसने उत्पन्न होने वाली जनसाधारण की शिथिलता, निराशा तथा विविधता के अभाव को उत्तेजनापूर्ण, रोमाञ्चकारी जासूसी कथानियों अथवा निराशावादी, छिद्रान्वेषी, ध्वंसात्मक साहित्य रचकर आत्म-

विस्मरण का मार्ग दिखाता है, तो इसमें उसका कोई दोष नहीं। कला सामाजिक प्रकृति तथा परिस्थिति की शिकार प्रत्येक युग में होती आई है।

परन्तु पिछले तीस वर्षों में (अथवा संभवतः वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से ही) कला को एक नये वातावरण ने आत्माभिव्यंजन का साधन बनाया है, उसका नाम है समाजवाद; जिसका संकेत हम प्रत्येक आदर्शवादी धर्म तथा कला से लगभग प्रत्येक शताब्दी में सुनते आए हैं, परन्तु जिसका ठोस वैज्ञानिक प्रयोग सफलतापूर्वक धरती के एक विशाल भाग (सोवियत यूनियन) पर अभी अभी हुआ है। इस प्रयोग ने कला को एक नवीन दृष्टिकोण दिया है, समाजवादी यथार्थवाद का।

समाजवादी यथार्थवाद का भाव यह है कि परम्परागत यथार्थवाद — जिसमें पदार्थों तथा प्रत्यक्ष जीवन तथा उसकी समस्याओं का यथार्थरूप वर्णन होता है (दृश्यमान की समीक्षा तथा उसकी कुरूपता पर प्रकाश डालने की दृष्टि से) की अपेक्षा यथार्थवाद को ऐसी सार्थक, नेतृत्वपूर्ण प्रवृत्ति दे दी जाय कि वह मनुष्य को समाज के साथ संघर्ष करता हुआ दिखाने की अपेक्षा अपनी आत्माभिव्यक्ति एक ऐसे समाज के साथ समन्वय उत्पन्न करके करे जिसमें से शोषण समाप्त हो चुका है। समाजवादी यथार्थवाद, प्रमाता तथा साहित्यकार दोनों से, यह आशा करता है कि वह ऐतिहासिक भौतिकवाद* के ज्ञाता हों तथा वर्तमान का मूल्य

* ऐतिहासिक भौतिकवाद का भाव यह है कि किसी समय के पैदावार के साधन ही सामाजिक इतिहास का आधार है तथा उस

उसके भूत तथा भविष्यत् की समीक्षा करके निर्धारित कर सकें ।

समाजवादी यथार्थवाद यह भी मानता है कि कला में शैली तथा विषय एक दूसरे पर निर्भर हैं । तथा दोनों का समन्वय ही बढ़िया कला को जन्म दे सकता है । प्रत्येक कलाकार इसलिये कला में अपना विशेष स्थान रखता है, क्योंकि उसकी निजी शैली प्रत्येक विषय को उसके अपने विशेष रंग में रंग देती है । समाजवादी यथार्थवाद यह भी मानता है कि साहित्य हमारे तर्क की अपेक्षा हमारी भावनाओं को अधिक प्रेरित करता है, इसलिये साहित्य में तर्क अथवा विषय को भावना में गूँथना साहित्यकार का पहला मनोरथ है । साथ में उसका शब्दों का चुनाव ऐसा हो कि उनका स्थान अन्य शब्द न ले सकें । वह सुलभा हुआ, स्वाभाविक परन्तु एकाकी, विश्लेषणात्मक तथा प्रभावशाली हो । परन्तु उलभी हुई अथवा रहस्यवादी न हो, कि किसी के कुछ समझ न आवे । रोमांचक तथा रहस्यवादी रचनाओं का इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान साहित्य में कोई स्थान नहीं* । पहले समय में चाहे कभी था, जब मनुष्य का आर्थिक सम्बन्ध समाज के साथ कबीलादारी अथवा सामन्त प्रथा द्वारा जुड़ा हुआ था ।

समय की राजनीति, कानून, सामाजिक प्रथाओं, कला आदि का भी । तात्पर्य यह है कि कला तथा समाज किसी समय के आर्थिक ढाँचे के अनुकूल ही हो सकते हैं इससे पृथक् नहीं ।

* साहित्य इस सिद्धान्त के अनुसार वहाँ तक ही उत्तम है, जहाँ तक वह अपने समय की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं का चित्रण करे तथा श्रमिक वर्ग की भलाई को अपनी कला का विषय बनावे ।

इसके विरोधियों की ओर से जो “कला कला के लिये” के अनु-यायी हैं, ऐसे साहित्य को प्रायः प्रचार का नाम देकर निन्दित किया जाता है। पर जैसे कि फ्रैड्रिक एंगेल्स ने कहा है, “चाहे अपनी प्रवृत्तियों को प्रकट करने से न एस्कलीज़ रुक सका, न एरिस्टोफ़ेनीज़, न दान्ते, न सर्वैन्तिस और न शिलर; परन्तु ये प्रवृत्तियाँ (नाटक आदि में) कठानी के अवसरो तथा पात्रों के आघातों में से विकसित होनी चाहियें न कि साहित्य की अपनी ओर से ऊपर ठोंगी हुई। समाजवादी उपन्यास का उद्देश्य भी तब ही हल हो सकता है, यदि पूरी ईमानदारी तथा सच्चाई के साथ समाज के भिन्न २ अंगों के परस्पर सम्बन्धों को चित्रित करके तत्संबंधी भ्रमों तथा अन्ध विश्वासों को तोड़ा जाय; वर्तमान मूल्यों के अजर अमर रहने वाले विश्वास पर सन्देह पैदा किया जाये, चाहे साहित्यकार की ओर से उसका कोई ठोस समाधान (दिख रही कठिनाइयों, समस्याओं का) दिखाया जाय या न, और चाहे साहित्यकार खुले तौर पर एक या दूसरे धड़े के साथ अपनी सम्मति प्रकट न भी करे*। इस सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स तथा एंगेल्स दोनों ने शेक्सपीयर की बड़ी प्रशंसा की।

इसी प्रकार कविता के संतुलन को और भी अधिक कलापूर्ण बनाने पर कार्ल मार्क्स ने जोर दिया है† और अपनी शैली में खास निजी होने पर, तथा कहा है, “(जैसे) आप प्रकृति की अमुक धनाढ्यता तथा रमणीयता की प्रशंसा करते हैं, (जैसे) आप गुलाब

* एंगेल्स की चिट्ठी एम० कार्ट्स्की को, नवम्बर २६. १८८५ ।

† मार्क्स की चिट्ठी फरदीनैंड लैज़ली को, अप्रैल १८५६।

से चमेली की सुगन्धि की आशा नहीं करते, उसी प्रकार सब से विचित्र माननीय आत्मा से (यह कैसे) आशा की जा सकती है कि वह एक ही रंग में अपने आपको चित्रित करें ?”† । इसलिये मार्क्स साहित्यकार (तथा प्रेस) को साहित्य को केवल व्यापार बना लेने पर दण्ड का भागी समझना है । क्योंकि साहित्य उसके रचयिता के लिये केवल जीने का एक साधन नहीं, अपितु उसके जीने का मनोरथ है और इसीलिये वह धार्मिक पुरुषों की तरह, “माननीय कानून को दैवी कानून के समान करता हुआ अपने प्राण भी कई बार इसीलिये न्योछावर कर देता है”* ।

समाजवादी यथार्थवाद के वर्तमान प्रमाता (उदाहरणस्वरूप सैदेव) इस बात पर भी जोर देते हैं कि साहित्य क्योंकि एक चेतनकला है, इसलिये इसमें तब तक यथार्थता नहीं आ सकती, न ही अलंकारों, चिह्नों, संकेतों का भावात्मक अभिव्यंजन हो सकता है और न विचारों का सुलभाव अथवा सम्पूर्णता पकड़ में आ सकती है, जब तक लेखक कई बार अपनी रचना को न दोहराये । बेलिंस्की कला में व्यवस्था या सम्पूर्णता पर बड़ा जोर देता है तथा नाटक में सारी समस्याओं को प्रधान समस्या के अधीन करने का निर्देश करता है और कहता है कि जब उस समस्या का समाधान हो जाय तो बाकी गौण समस्याओं का भी उसके साथ समाधान हो जाना चाहिये ।”

† कार्ल मार्क्स, मैगा, भाग पहला, जिल्द पहली, पृष्ठ १५४

* मार्क्स, मैगा, भाग पहला, जिल्द पहली पृष्ठ २२२-२२३

॥ ‘साहित्य और उसकी परख’ नामक क़ैदेव के निबंध में पृष्ठ १५२, सोवियत लिटरेचर, नवम्बर १९४६ ।

सैदेव गीति काव्य उसे कहता है जो गाया जा सके। ऐसी कविता छोटी हो पर स्पष्ट चिन्तन वाली। अलंकारों में सही तथा ठोस होना वह कविता की कला के लिये आवश्यक समझता है। परन्तु शैली में रूखा होना वह घटिया कला की निशानी गिनता है। उसका कहना है कि समाजवाद के निर्माण में प्रकृति तथा मशीन की प्रशंसा करने की अपेक्षा मनुष्य की प्रशंसा करनी चाहिये, उसकी महानता, चाव तथा प्रसन्नता-भरी व्यग्रता का विकास करना चाहिये, न कि उसकी कृति की, जिसे वह बनाता है और उन औजारों को जिनके द्वारा वह उसे बड़ता है। रूप का विषय के साथ समन्वय (सैदेव के कथनानुसार) कला की मुख्य माँग है। वह रूप के ढीलेपन को कोसता है, कला में कतर-ब्योंत तथा संक्षेप की प्रशंसा करता है, नाटक, उपन्यास में कथानक के स्वाभाविक विकास पर जोर देता है तथा उसको जीवन के अधिक से अधिक समीप रखने के लिये कहता है।

साहित्य सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोण *

ईसा से बारह शताब्दी पूर्व से लेकर ईस्वी संवत् के प्रारम्भ तक का समय ऐसा है जिसमें “कवि” तथा “काव्य” को लगभग दैवी अवतार तथा “दैवी कृति” समझा जाता था। यह कृति छन्दो-बद्ध “मन्त्रों” के रूप में प्रकट होती थी जिनके “अर्थ” समझने आवश्यक थे। वैदिक ऋषि को, जो इनका कर्त्ता था, अग्नि, सूर्य

❁ इस गवेषणा का विस्तार जानने के लिये दो पुस्तकें हैं:—

Keith—Sanskrit Literature (2) De—Sanskrit Poetics.

अथवा इन्द्र रचना के लिये प्रेरित तथा उत्साहित करते थे । यह रचना इस लिये एक तरह का 'आवेश' थी, इसीलिये इसको श्रुति कहा गया (स्मृति के उलट, जिसका भाव है स्मरण से अथवा परम्परा से उत्पन्न) फिर भी वैदिक ऋषि उस कला पर गर्व करता है जिसकी सहायता द्वारा उसने इस "आवेशसम्बन्धी" ज्ञान को शब्दों में बाँधा । इसीलिये यह आवश्यक समझा गया कि उसे वाक्य की ठीक सूझ हो ।

शब्द-विज्ञान में इसके बाद एक शब्द "रस" का प्रचलित होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इसको सारी रचना का तत्त्व, निष्कर्ष, अमृत-स्वरूप कहा गया है (देखिये ऋग्वेद, आठवां अध्याय, ऋचा ५३ पंक्ति ३) जिसमें आत्मा आनन्द लेती है, आत्मा, जो सारे सृष्टि का तत्त्व तथा निष्कर्ष है, जो सत्, चित्, आनन्द है तथा जिस पर सारे जीवन का आधार है, यह आप ही रसज्ञ है तथा अपने आपका ही भोग करती है तथा रस सब स्थानों से एक जैसा लेती है चाहे वह किसी भी कारण उपजे अथवा किसी भी रूप में हो । ज्ञान का रस ऐसा है, जो समझ में भी नहीं आता, उसको केवल ग्रहण ही किया जा सकता है ।

ब्रह्मा के हृदय तथा वाक्य के समन्वय में से ईश्वरीय उपज होती है । जो कोई भी सत्यरूप में कहा जाता है वह एक "संकल्प" है, जो दोनों के मेल से उत्पन्न हुआ तथा विद्या (अथवा कला) कहलाया ।

जो कोई सत्य का विस्तार करता है वही उत्तम "अतिवेदन" है तथा सत्य का प्रचार करने के लिये उसी को पहले समझना

चाहिये । जो कुछ “वाक्य” में सत्य के बिना शारीरिक आवश्यकताओं, अनुभवों, अभिरुचियों की पूर्ति के लिये कहा जाय, वह प्रलाप है, ज्ञान नहीं । बौद्धधर्मग्रन्थों में भी “सत्य” को ही वचन का आदर्श माना गया है । (वचन इसलिये कि लिखना अभी प्रारम्भ ही न हुआ था) । कई बौद्ध लेखकों की प्रशंसा बौद्ध धर्मग्रन्थों में इसलिये की गई है कि वह कथा को अलंकारों द्वारा प्रस्तुत करते हैं, उपमा, रूपक आदि द्वारा । बुद्ध ने तो यह भी कहा है कि उसके गम्भीर उपदेश भुला दिये जायेंगे परन्तु जो उनका सारांश कवियों ने अपने “काव्य” में दिया है, अलंकारों में लपेट कर, वह चिरजीवी रहेगा । तथा अलंकार कलात्मक रस देने के लिये नहीं बरते जाते हैं केवल कलात्मक रस-ग्रहण के भूखे पाठकों को मुक्ति के लिये अपेक्षित विषय के साथ परिचित कराने के लिये ।

भरत के नाट्य-शास्त्र की ओर (चौथी अथवा छठी शताब्दी ईस्वी) आगे इशारा किया जा चुका है । इससे पहले भी कई “अलंकार शास्त्र” रचे गये थे तथा समालोचना के और ग्रन्थ भी । चार मुख्य अलंकार इसमें गिने गये हैं -- उपमा, रूपक, दीपक, यमक । अलंकार-रचना अनुकृति अथवा समता से उत्पन्न होती है तथा इसके गुण हैं, प्रसाद-शक्ति-माधुर्य (जैसे २ कविता का रूप मांग करे) कविता के रस को उसके अर्थ तथा स्वर से पृथक् किया गया । रस आठ (बाद में नौ से अधिक भी) माने गये हैं । किसी रचना का रसग्रहण करने के लिये हमें उसके भाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि को परखना चाहिये अर्थात् उसके सम्पूर्ण

विषय की विशालता, विशेष शब्द तथा पात्रों की गतिविधि (नाटक आदि में) भाव तथा स्वाभाविकता को परखना चाहिये, पर रस उसी को प्राप्त होता है जो रसिक हो (रसिक से तात्पर्य निजी अभिरुचि या प्रवृत्ति रखने से नहीं, अपितु किसी कलात्मक रचना के गुण अवगुण परख सकने की सूझ से है) । किसी काव्यमयी रचना के अर्थ तथा उसका आशय समझने के लिये उसके शब्दों के अर्थ (अभिधा) भीतरी अर्थ (लक्षणा) तथा संकेतात्मक (व्यंजना) को— जो ध्वनि रूप होकर प्रकट होती है तथा जिसका सम्बन्ध अन्त में अनश्वर मात्रा (ओ३म्) के साथ जुड़ा होता है (जिसके बिना शब्द निरर्थक हो जाते हैं और उनका पृथक् अस्तित्व ही कोई नहीं रहता) —देखना चाहिये ।

चित्र काव्य या आलंकारिक कविता, जिनमें शब्द या अलंकार केवल उन्हीं की अपनी अभिरुचि के लिये बरते जायें, कविता नहीं कहला सकती । कवि की सृजन शक्ति या तो उसे सहज अवस्था से प्राप्त होती है या गवेषणा (आहार) द्वारा ।

सौन्दर्यबोध (Aesthetics):—

सौन्दर्य के दर्शन को जो कला द्वारा प्रकट हो, सौन्दर्यबोध कहा गया है । कलात्मक सौन्दर्य क्या है, किन अवस्थाओं में उत्पन्न होता है तथा ब्रह्माण्ड के नियमों (सत्य तथा अत्युत्तम) के साथ उसका क्या मेल है ? यह सौन्दर्यबोध की समीक्षा का विषय है । सौन्दर्य के कई विशेषण रसज्ञों ने दिये हैं—आदर्श, उत्तम, योग्य, समीचीन, दुखान्त, सुखान्त, प्रामीण आदि, जैसे २ वह परम सत्य

के साथ मेल खाता हो या न खाता हो । इसकी पहचान तथा परम्परा में समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं ।

सुक्रात से पूर्व कवियों का विचारक, गुरु तथा मनोहर गल्प-साहित्य के जन्मदाता के नाते सम्मान किया जाता था । अफलातून (प्लैटो) ने उन्हें ऋण खाने वाले नक्काल तथा भाण्ड कहकर धिक्कारा, क्योंकि उसके विचार में वह प्रत्यक्ष को चित्रित करते (अथवा उसकी यथार्थरूप अनुकृति अंकित करते) हुए, नकली तथा घटिय अभिरुचि को जगाते थे । कला, उसके कथनानुसार, वही सम्मान के योग्य है, जो सच्ची है, नियमित है तथा केवल विशुद्ध रस देने वाली है । अरस्तू (अफलातून के शिष्य) ने भी कला को अनुकृति तो माना परन्तु उसके अर्थ और किये । उसके कथनानुसार कवि तथा चित्रकार जीवन की नकल उतारते हैं, परन्तु उसके सम्भव तथा आवश्यक अंगों की, न कि केवल प्रत्यक्ष अंगों की, जो ऐतिहासिक का काम है । अरस्तू ने ट्रैजेडी (द्रष्टांत रचना) को कविता का शिखर माना है । उसके विचार में सर्वांग-सम्पूर्ण कलात्मक कृति वह है जिसमें कोई परिवर्तन न किया जा सके । उसका आकार न बहुत छोटा हो न बहुत बड़ा तथा भिन्न-भिन्न अंगों और उनके समूह को हम एक दूसरे पर निर्भर देख सकें । और यह महत्त्वपूर्ण हो । कला के रसदायक प्रभाव भिन्न भिन्न हो सकते हैं, पर वे तर्क के प्रतिकूल नहीं होते । सौन्दर्य का लक्षण अरस्तू यह करता है—नियमितता, क्रमशीलता, यथार्थता । एपौलीनियस ने “अनुकृति के साथ” “कल्पना शक्ति” को भी जोड़ दिया क्योंकि कवि केवल प्रकृति की अनुकृति ही नहीं करता, हमें कल्पना की

सहायता द्वारा उसे किसी और ङग में प्रस्तुत करता है । प्लूटार्च ने कविता का उद्देश्य शिक्षा-सम्पत्ति बताया है ।

प्लोटिनस ने सौन्दर्य को वह अप्राप्य वस्तु दर्साया है जो दृश्यमान में से केवल भूलके, अस्पष्ट होकर दिखती हुई हमें भ्रम में डाले, पथभ्रष्ट करे । यही नियोप्लेटोनिज्म का सिद्धान्त था । भारतीय दृष्टिकोण भी लगभग यही है । माइकल एन्जेलो की कविता तथा मूर्तिकला का प्रेरक भी यही विचार था । होरेस ने साहित्य को रसदायक तथा लाभदायक का संमिश्रण बताया है ।

सेंट थामस ने मध्य शताब्दियों में सौन्दर्य के अभिन्न गुण, क्रमशीलता, सम्पूर्णता अथवा व्यवस्था—तथा साथ ही प्रकाश—दिखाये हैं । न केवल यही, अपितु उसने यह भी कहा है कि सुन्दर पदार्थ वे हैं जो देखने में भी सुन्दर लगें । बोकेशियों ने कवि को दार्शनिक कह कर पुकारा है क्योंकि वह पदार्थों के रूप तथा कारणों का अंग-विश्लेषण करता है । यही विचार पैटार्क का है ।

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इतालवी गियामटिस्टां वीको ने कल्पना-शक्ति को आदिम, असभ्य मनुष्य की चित्रभाषा द्वारा भावों को सुलभाने का साधन बताया, तथा लिखा कि कविता किसी जाति की आत्मा का, उसकी आदिम अवस्था में वर्णन करने का नाम है । इसलिये तर्क का, जो बाद में उत्पन्न हुआ, कविता में कोई स्थान नहीं ।

दार्शनिक हाब्ज़ के कथनानुसार कवि हमें कल्पना-शक्ति (जो अन्तरप्रेरणा के साथ मिल जाती है) की सहायता द्वारा वहाँ

ले जाता है, जहाँ पदार्थ केवल अपने प्रकट रूप में नहीं दिखते; विश्वसनीय रहकर भी, और के और प्रतीत होते हैं। पर बाइबल ने निरुद्देश्य लक्षणशक्ति की निन्दा की है, तथा साहित्यिक पदार्थ की “युक्ति-युक्त नियमितता” के साथ तुलना की है।

पोप ने साहित्यिक कला को मानव-प्रकृति की नकल कहा है, भाव, किसी समय के जीवन तथा समाज के सर्वव्यापी (परन्तु तर्क की कसौटी पर पूरे उतरते हुए) अंगों का चित्रण, जो प्रत्येक स्थान पर मानव से प्रशंसा प्राप्त करेगा।

वर्तमान आदर्शवादी दर्शन साहित्य को आध्यात्मिक संसार को, शारीरिक प्रतीकों में वर्णन करने की कार्यकुशलता बताता है। कान्त कल्पना शक्ति की सहायता द्वारा दृश्यमान प्रकृति से “दूसरी प्रकृति” की सृष्टि सम्भव समझता है और कहता है कि तर्क तथा अनुभव, कल्पनाशक्ति की सहायता द्वारा कवि से उभर सम्पूर्ण ज्ञान की अभिव्यक्ति कराते हैं, जिसका प्रकृति में कोई उदारहण नहीं मिलता।

गैटे ने भी यही सुझाया है कि कविता कल्पना शक्ति का स्वतः स्फूर्त-अभिव्यञ्जन है, जब वह सर्वव्यापी तर्क (Universal Reason) को सीमा तक पहुँच जाती है तथा जो कुछ मनुष्य में सर्वव्यापी होता है उसे मानव के आगे खोल देती है। साहित्यिक कलाकार सम्पूर्ण प्रकृति को अपने आप में रचा लेता है ताकि उसे ऊँचे से ऊँचा, समझ में आ सकने वाला रूप दे सके।

नाबलीज़ ने कविता को “यथार्थ परमसत्य” कहा है। हीगल

ने साहित्य को वह स्वरूप बतलाया है, जिसमें परमसत्य कलात्मक सौन्दर्य का रूप धारण करता है, भाव वह जिसमें विषय के ऊपर उसकी आत्मा छाई होती है (अनुभूति संबंधी प्रतीकों के उपयोग द्वारा) परंतु जिसमें मानसिक प्रतीक ही विषय होता है ।

ह्रीगल तथा सोल्गल ने साहित्य को सर्वव्यापी जगत् विचार बताया है और ऐसे साहित्य की ओर संकेत, मार्क्स तथा एंगेल्स के “कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टों” में भी है ।

रोमांचवादी अंग्रेज कवियों जैसे ब्लेक ने कविता को एक “निरुद्देश्य बहुलता” कहकर उसकी नियमितता तथा संयम के प्रचलित सिद्धान्तों के विरुद्ध खड़ा किया । हीगल जो “शुद्ध आदर्शवादी” था, ने कला को परम-आत्मा का शारीरिक परिधान पहनना कहा है । जब तक परम सत्य मनुष्य की कल्पनाशक्ति की सहायता द्वारा हमारे कानों तथा आँखों को सुनाई नहीं देता, दिखाई नहीं देता, आध्यात्मिक सत्य मनुष्य की समझ में नहीं आ सकता । कला का सुचारु रूप उसकी समानरूपता में है, जिसमें तर्क तथा अनुभूति में से किसी की ओर भी अधिक झुकाव न हो ।

सोफ़नेअर ने जीवन को बुराई बता कर कला के “एकनिष्ठ ध्यान” द्वारा इससे छुटकारा पाने का साधन बताया है, विशेषतया संगीत द्वारा । उन्नीसवीं शती के आगस्टस काम्पे ने कला द्वारा श्रेष्ठ समाज उत्पन्न करने का स्वप्न देखा । रस्किन ने कला को किसी समय की सामाजिक खूबियों तथा बुराइयों का चित्रण बताया । विलियम मारिस कला को “उस आह्लाद की अभिव्यक्ति

बताता है, जो मानव अपनी, स्वीय कृति से प्राप्त करता है।” तोल्स्तोय के मत में कला वह चमत्कार है, जिस द्वारा हम अपने सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोत्तम भाव दूसरों तक पहुँचा सकते हैं। इसके प्रतिकूल वाल्टर पेटर कला को आह्लादपूर्ण, अधिक से अधिक भाव एकत्रित करने का साधन बताता है। फ्लोबेअर ने अतिश्रेष्ठ शैली द्वारा उत्तम कला की परख करने का सुभाव दिया तथा हिल्सर ने सम्पूर्ण नैतिक मानदण्डों से कला को स्वतंत्र करने की प्रेरणा दी। इन तीनों अन्तिम कलाकारों ने “कला केवल कला के लिये” का नारा लगाया, जिसका भाव यह था कि कला हमारी कोई आध्यात्मिक या सामाजिक आवश्यकता पूरी नहीं करती, केवल कलात्मक आनन्द देती है और यह है क्योंकि यह अवश्यम्भावी है।

२

सौन्दर्य (साहित्य के रूप में) क्यों और कैसे घड़ा जाता है और समाप्त होता है, उसके बारे में भी भिन्न-भिन्न मत हैं।

स्पैन्सर तथा शिलर के कथनानुसार कला की प्रेरणा मानव की अन्तर-क्रीड़ा की प्रेरणा का परिणाम है। माशल कहते हैं कि मनुष्य का दूसरों का ध्यान खींचने के लिये उनकी प्रशंसा करना कला को प्रेरणा देता है। वाल्डविन के मत में कला आत्माभि-व्यक्ति का साधन है तथा अपनी क्रीड़ा दूसरों को दिखलाने की अभिलाषा कला का मूल है। अलैंग्जैण्डर कहते हैं ये सब रचनात्मक प्रेरणा का परिणाम है जो पशु-वस्तुओं को कोटर तथा नीड निर्माण करने के लिये प्रेरित करती है तथा मानव को

रचनात्मक कृतियाँ, परन्तु जो अमर होती हैं । डाक्टर फ्रायड इसे मौन निराशा का परिवर्तनशील प्रवाह कहता है । मैक-दुगल कला को किसी अन्य अपरिपक्व अथवा असभ्य आवेग से ऊँचा उठने का आवेग समझता था । हिरन का विचार यह है कि कला आदिम असभ्य मनुष्य ने दूसरे लिंग के प्राणी को आकर्षित करने के लिये, सामूहिक पारिश्रम को सहल बनाने के लिये, विपक्ष को डराने अथवा जादू के लिये रची, परन्तु बाद में जाकर केवल कला को देखने की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिये कला की सृष्टि होने लगी ।

कला की गुणग्राह्यता के बारे में तीन मत हैं—(i) एक कला रचना के अभिप्राय को समझना, उसकी भीतरी कहानी घटना आदि को तथा साथ ही उसके क्रम, अनुपात, लय, समन्वय तथा सबसे अधिक एकता को, जो इन सबका मिश्रित रूप होती है तथा प्रत्येक कलात्मक रचना में पाई जाती है । यह अनेक स्वरूपों वाली इकाई अथवा व्यवस्था और सम्पूर्णता हमें सौंदर्यरस देती है । (ii) कलात्मक प्रवृत्तियाँ हमें कलात्मक रस देती हैं । इसका अभिप्राय यह है कि एक तो हम अपने स्वभाव का कुछ भाग कलात्मक रचना में घोल देते हैं, दूसरे हम कलात्मक रचना को एक भवन का तख्त ही अनुभव करते हैं अर्थात् उसको देखकर न हम 'उम्र' पर 'संदेह' करते हैं न उसके अस्तित्व से इनकार करते हैं न ही अस्तित्व को हट कर देते हैं । यही एकनिष्ठ ध्यान है कला का, जो सौंदर्यबोधक प्रवृत्ति हममें जगाती है । (iii) हमारी उन शक्तियों का जागरण जो और कामों के समय सोई रहती हैं तथा हम किसी सम्पूर्ण

कलात्मक प्रयोग का उसके अपने आपके लिये ही सत्कार करते हैं, (ड्यूयी) । रिचर्ड हमारी सारी भावनाओं की समतलता को कला की गुणग्राह्यता का एक मात्रनियम गिनता है ।

कलात्मक रस की ग्राह्यता के दो भाग किये गये हैं, ध्यान आकर्षक करना तथा रसदान । ध्यान तब आकर्षित किया जाता है जब हमारी अनुभूति, अन्तःप्रेरणा, कल्पनाशक्ति, बुद्धि में से कोई एक या सारे उकट्टे प्रेरित किये जायें । इनमें से ही फिर रस उत्पन्न होता है तथा यह रस कई प्रकार का हो सकता है । परन्तु यदि दर्शक अथवा पाठक की प्रवृत्ति कलात्मक-वादी है तो वह प्रत्येक रस को ग्रहण करेगा, जो कुछ भी उसके सम्मुख प्रस्तुत किया जाय ।

अरस्तू :—(१३८४ से १३२२ ख्रिष्टाब्द पूर्व तक)

अरस्तू प्लैटो का शिष्य था और यूनान का प्रसिद्ध साहित्यिक प्रमाता था । उसके बहुत सारे विचार अब तक प्रचलित हैं । उनमें से कुछ एक के बारे में पीछे संकेत किये जा चुके हैं । अपनी पुस्तक पोयटिक्स (Poetics) में उसने जो विचार प्रकट किये हैं, नीचे उनमें से कुछ दिये जा रहे हैं ।

उसने ऐपिक कविता अथवा नाटक के अंग ये दिये हैं :—

(i) कथानक जो पात्रों के स्वभाव में से प्रकट हो । ट्रेजेडी में ये पात्र (जब वे किसी विशेष भार के नीचे न दबे हों) सज्जन, सहानुभूतिपूर्ण तथा न्यायप्रिय हों । वे जीवन को हूबहू प्रस्तुत करें, एक-सा आघात करें, परन्तु उनमें कोई न्यूनता या दुर्बलता हो, जिस में से दुःखान्त आघात प्रकट हों ।

(ii) पात्रचित्रण कथानक से दूसरे दर्जे पर है ।

(iii) पात्रों का तक चित्तर्क ।

(iv) शब्दों का चुनाव ।

(v) गेय गुण (अरस्तू के समय नाटक भी कविता में लिखा जाता था) ।

(vi) दृष्टिगुण अर्थात् नाटक रंगभूमि पर खेले जाने के कितना योग्य है ।

प्रत्येक कला में, अरस्तू कहता है, एक रसज्ञ को विशेष प्रकार का रस प्राप्त होता है । यह रस प्रायः ज्ञान-विषयक होता है । यही कारण है कि हम दुःखान्त में से भी एक प्रकार का रस लेते हैं । करुणा तथा भय का प्रादुर्भाव दुःखान्त के लिये आवश्यक है ताकि इन भावों की बहुलता को दर्शक अपने अन्दर से समाप्त कर सके । सुःखान्त का हास्य भी इनमें से कई प्रकार की निष्कृष्ट भावनाओं को नष्ट करता है (अठारहवीं शती में माना गया था कि सुखान्त से तिली के रोग का नाश होता है) ।

अरस्तू ने नाटक में स्थान की एकता का कोई नाम नहीं लिया । समय की एकता के बारे में भी यही लिखा है कि सूर्य के एक चक्र में प्राचीन यूनानी नाट्यकार अपनी कहानी के आघात को बाँधते हैं अथवा लगभग इतने समय में । परन्तु वह कथानक की एकता पर जोर देता है अर्थात् भिन्न २ अंगों को एक गोलाई में बाँधने पर ।

साहित्य, कविता तथा अन्य कलायें

कविता को आदि काल से सब एक कला मानते हैं । साहित्य के शाकी अंगों के बारे में विचारों की इतनी एकता नहीं मिलती । कविता के अंग ये माने गये हैं :—

(i) प्रतिभाशाली तथा मनोकल्पित विचार ।

(ii) शब्दान्तक अभिव्यंजना । एक कविता के विषय पर, किसी चित्र अथवा मूर्ति के विषय में बहुत अधिक लिखा जा सकता है । फिर इन दोनों अंगों का कविता में ऐसा कोई अवर्णनीय मिश्रण होता है, जो साहित्य के बाकी अंगों में नहीं मिलता । कविता में प्रत्येक शब्द को नई कुठाली में ढाला जाता है, उसको तोड़ा जाता है, फिर ही वह किसी नये रूप में उभरता है । बाकी के साहित्य में भाषा केवल भाव समझाने का काम करती है । परन्तु जब भाव नाटकवि में भी तीव्र हो जाये तो भाषा काव्यमयी हो जाती है ।

चित्रकला, रूपकला, निर्माणकला में मनोकल्पना प्रधान होती है । संगीत, नृत्य, नाट्य में भाव । कविता इन दोनों का निष्कर्ष है ।

समूचे तौर पर साहित्य को जन्म देती है, बाकी कलायें उस उपज को केवल विस्तृत करती हैं । किसी समय के साहित्य के बिना उसकी बाकी कलाओं का ज्ञान कठिन है, क्योंकि साहित्य ही किसी समय की संस्कृति का सही प्रतिबिम्ब तथा निष्कर्ष होता है ।

चित्रकला कई बार साहित्यिक हो जाती है और किसी शिक्षा अथवा कहानी का वर्णन करने लगती है । कविता कई बार चित्रों की भांति स्थायी प्रतीक उपजाती है । जैसे कवि कई बार शब्द-चित्र अंकित करते हैं, वैसे ही चित्रकार भी रंगों में कभी कभी स्वरों की अभिव्यक्ति करते हैं ।

संगीत, कविता तथा नाटक

संगीत, चित्रकला अथवा रूपकला की तरह दृष्टिकला नहीं है ।

यह साहित्य की भांति बोला, सुना तथा पढ़ा जाता है । दृष्टि-कलाओं का विस्तार स्थान में है । संगीत तथा साहित्य का समय में; परन्तु संगीत में स्वर-आलाप का सुनना ही मनोरथ है । साहित्य में शब्दों के स्वर अपने से बाह्य किसी अर्थ को प्रकट करते हैं । संगीत के स्वर परिवर्तन के लिये स्वतंत्रता भी बहुत है, प्रत्येक स्वर पर, एक विशेष बिन्दु पर पहुँच कर नियन्त्रण किया जा सकता है, किन्तु यह स्वतन्त्रता तथा नियन्त्रण किसी नाटक में भी पात्रों के हिस्से नहीं आ सकते । संगीत में भी मिश्रित स्वर पैदा किये जा सकते हैं तथा उनकी गहराई और तीव्रता तक साहित्य नहीं पहुँच सकता ।

पर अधिकांश कविता गाने के लिये लिखी जाती है । इसलिये इसका संगीत के साथ गहरा मेल है । कई बार संगीतकार किसी कविता को इस प्रकार गाते हैं, जिससे उसके शब्द स्वर्गों को ठीक तरह बाँधा जा सके । परन्तु कई बार केवल उसका वातावरण स्थापित करने के लिये, जिसकी नकल करना बहुत कठिन होता है ।

साहित्य तथा संगीत दोनों एक ओर पुनरुक्ति तथा पलटा और दूसरी ओर अनुपात तथा तुलना द्वारा अपनी कला निखारते हैं । पुनरुक्ति तथा पलटा संगीत में अधिक प्रयुक्त होते हैं, परन्तु तुलना तथा अनुपात (क्या पात्रों में, क्या शब्दों, अलंकारों में) साहित्य में संगीत जितने ही प्रचलित हैं । साहित्य का विकास सीधा सादा होता है, संगीत का गोलाई में । संगीत के भिन्न-भिन्न अंगों के लिये उनकी प्रवृत्तियों के अनुसार कविता ने साहित्य दिया है । जैसे पृष्ठभूमि संगीत, समयानुसार रस में तीक्ष्णता उत्पन्न करता

है । नाट्यकाव्य तो गाया भी जाता है । संगीत नाटक में यूँ ही आ प्रविष्ट हुआ है, वातावरण बनाने के लिये । एक से दूसरे दृश्य को पृथक् करने के लिये, किसी जुलूस की अगवाई करता हुआ अथवा नृत्य के साथ ताल देता हुआ ।

प्राचीन साहित्य (Classics)

लैटिन के एक विद्वान् गैलिम ने दूसरी शती खृष्टाब्द में यह शब्द उन रचनाओं के लिये घड़ा था जो थोड़े चुने हुए लोगों के अध्ययन के लिये हों, लौकिक साहित्य के मुकाबले पर । कुछ शतियाँ व्यतीत होने पर प्राचीन साहित्य उसे स्वीकार किया गया, जो सदा विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जा सके । यूनान तथा रूस के प्राचीन साहित्य को यह पदवी दी गई । धीरे-धीरे यह भी स्वीकार कर लिया गया कि लोक-भाषाओं में भी प्राचीन साहित्य की रचना हो सकती है । अब प्राचीन से तात्पर्य उस प्राभाविक साहित्य का लिया गया जो अत्युत्तम तथा निराकार सौन्दर्य को ठोस रूप में प्रस्तुत करे तथा अनुपात एवं नियमितता में अचूक हो । तथा जिसको साहित्यिक कुशलता का नेतृत्वपूर्ण दृष्टांत स्वीकार किया जा सके ।

रोमांचवादी इस सिद्धान्त के विरोधी हैं । उनके विचार में कोई साहित्य हमेशा के लिये प्रामाणिक नहीं हो सकता तथा प्रत्येक साहित्यकार को अधिकार है कि वह अपने लिये आप नियम बनाले ।

आदर्शवादी साहित्य

कोई साहित्यिक रचना तब आदर्शवादी होती है, जब वह निम्नलिखित में से किसी एक गुण को उजागर करे ।

(i) उसका विषय आध्यात्मिक हो और वह मनुष्य की जीवन तथा मृत्यु के वाद को आध्यात्मिक तथा देवी महानता को चित्रित करे ।

(ii) अपने पात्रों को ऐसे निखारे कि उनकी बढ़िया और सूक्ष्म विशेषताएँ सामने आएँ, न कि साधारण और कुरूप और दुःखद । यहाँ यह यथार्थवाद का विरोधी होता है ।

(iii) कथानक का अन्त ऐसे करे कि उसमें से आशा-वाद की किरण फूटती दिखाई दे ।

(iv) नैतिक तथा सौन्दर्य-बोधक मूल्यों को दृढ़ करे ।

कल्पना शक्ति :—

कल्पना शक्ति का वर्णन कई प्रकार किया गया है—

वह शक्ति कल्पना शक्ति है, जो दृश्यमान प्रतीक (एकाकी अथवा सम्मिलित) घड़ने में हमारी सहायता करती है और जिनकी सहायता द्वारा हम एक ओर हवाई किले तथा इन्द्र-जाल बनाते हैं तो दूसरी ओर मनुष्य तथा प्रत्यक्ष प्रकृति को आदर्श रंगों में रंगते हैं ।

हमारा सहानुभूतिपूर्ण अध्यवसाय द्वारा किसी घटना की आत्मा में प्रविष्ट होना भी कल्पना शक्ति का चमत्कार है ।

निराकार विचारों को दृश्यमान प्रतीकों में बदलना अथवा

रहस्यवादी अन्तःप्रेरणा का काव्यमयी भाषा में अनुवाद जो तर्क तथा अनुभूति से पल्ला छुड़ा लेता है अथवा मनुष्य की उपजाऊ-शक्ति जो मनुष्य की विरासत है—सभी कल्पना-शक्ति के प्रकट रूप हैं ।

कुछ समय के लिये इसे भावनाशक्ति भी समझ लिया गया था । परन्तु बाद में इसे गौण स्थान दिया गया । कल्पनाशक्ति से बहुत नीचे, क्योंकि कल्पनाशक्ति हमारे तर्क को काटती हुई भी युक्तिसंगत होती है परन्तु यह केवल वहमी, हवाई सी होती है ॥

सहायक ग्रंथों की सूची

पहला कौंड (साहित्य का उद्देश्य)

- S. Hook** From Hegel to Marx, 1936
A Guerard Literature & Society, 1935
A. H. Thorndike The Outlook for Literature, 1931
David Ditches A Study of Literature, 1948
E. J. Simmons An Outline of Modern Russian
Literature, 1944
Legouis & Cazamien A History of English Literature,
J. T. Shipley A Dictionary of World Literature
Karl Marx & Engels Literature & Art, 1949
A. B. Keith V History of Sanskrit Literature, 1928
W. H. Hudson An Introduction to the Study of
Literature, 1946 ed.

दूसरा कौंड (कविता की कला)

- I. N. Bukharin** Poetics & the Problems of Poetry in
the U. S. S. R., 1935
C. Cauldwell A Study of the Sources of Poetry,
Walter Ellen Writers on Writing, 1948
T. S. Eliot The Sacred Wood
W. B. Yeats Essays. Symbolism in Poetry
Robert Bridges Collected Essays
Walt Whitman Preface to "Leaves of Grass"
I. A. Richards Principles of Literary Criticism
Edger Ellan Poe The Philosophy of Composition
G. Hughes Imagism, 1931

- D. Barfield** Poetic Diction, 1928
T. Gilby Poetic Experience, 1934
G. Boas Philosophy & Poetry, 1932
P. Gurrey Appreciation of Poetry, 1946

तीसरा कौंड (उपन्यास)

- E. Muir** The Structure of Novel, 1946
E. M. Forester Aspects of Novel, 1947
H. James The Art of the Novel, 1934
J.W. Beach The 20th. Century Novel, 1932
Anton Tchekhov **Maxim Gorky**
 Letters Art

चौथा कौंड (नाटक)

- Milton Marx** The Enjoyment of Drama, 1947
R. V. Jagirdar Drama in Sanskrit Lit., 1947
R. K. Yajnik The Indian Theatre
H. N. Das Gupta The Indian Stage (4 Vols).
A. Nicoll 1. The Development of the Theatre, 1937
 2. The Theory of Drama, 1931
F. L. Lucas Tragedy
A. H. Thorndike Tragedy
Lennox Robinson Appreciation of Theatre
A. B. Keith Sanskrit Drama

पाँचवाँ कौंड

A Dictionary of World Literature
 by J. T. Shipley
 and various Journals.

